"जैनाचार्य न्यायांभोनिधि श्रीमद्विजयानन्दसूरि—
(आत्मारामजी महाराज)"



स्वर्गवास सम्वत्

"No man has so peculiarly identified himself with the interests of the Jain Community as Muni Atmaramji. He is one of the noble band sworn from the day of initiation to the end of life to work day & night for the high mission they have undertaken. He is the high priest of the Jain community and is recognized as the highest living authority on Jain Religion and Literature by Oriental Scholars"

(The world's Parliament of Religions Chikago in America Page 21.)

वक्तव्य ।

प्रिय पाठको !

इस पुस्तक के अवलोकन से आपको स्वयं ही ज्ञात हो जावेगा कि यह अपने विषय और ढङ्ग की एक अनोखी पुस्तक है । देश, काल और समय को देख कर ऐसी पुस्तको की अत्यन्त आवश्यकता थी, जिनसे सत्य बातों का विकाश हो कर भ्रम-जनक बातों का नाश होता रहे । इसी कारण से यह पुस्तक अथवा अन्य ऐसी ही सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें तय्यार करा के इस मण्डल ने भविष्य में प्रकाशित करने का निश्चय किया है । जिससे जैन और जैनेतर सब ही लाभ उठा सकें । विशेष कर इस विषय मे बहुत से जैनेतर भाइयों का आग्रह था कि ऐसी पुस्तकें अवश्य निकलनी चाहिये ।

प्रकाशित होने से पहिले यह पुस्तक अवलोकनार्थ श्री १००८ श्री विजयवल्लभ-सूरि जी महाराज, लाला कन्नोमल जी जज व पं० सुखलाल जी के पास भेज दी गई थी और उनकी सम्मति मिलने पर ही हमने इसको छापने का साहस किया है । आशा है कि पाठकगण इसे अपना कर लेखक महाशय के परिश्रम को कृतार्थ करेंगे और मण्डल के कार्य्य को उत्तेजना देंगे ।

परिश्रम और खर्च को देखते हुये इस पुस्तक का मूल्य अल्प ही रक्खा गया है । कारण कि ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन में खर्च बहुत करना पड़ता है । फिर भी यदि हमारे पाठकों ने इसका सदुपयोग किया तो हम अपने कार्य्य को सफल समझेंगे ।

रोशनमुहल्ला आगरा ।
१ सितम्बर १९२७

दयालचन्द जौहरी
मंत्री—श्री आत्मानन्द जैन—
पुस्तक-प्रचारक मण्डल

प्रस्तावना ।

[पुराण लक्षण और संख्या]

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति, पुराणं पंच लक्षणम् ॥

[मत्स्य पुराण]

जगत् सृष्टि, प्रलय, महानुभावों का वंश मनुओं के अधिकार और समय तथा उक्त वंश वालो के चरित्र इन पांच विषयों का जिसमें वर्णन हो उसको पुराण कहते हैं। [1]पुराणों की संख्या और नाम का उल्लेख भी पुराण ग्रन्थों में दिया है उनकी संख्या अठारह और नाम ये हैं—

अष्टादश पुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते ।
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा ॥

---

(१) ऐतिरेय ब्राह्मण के उपक्रम में सायणाचार्य ने इतिहास और पुराण का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"देवासुराः संयत्ता आसन्" इत्यादि इतिहासः "इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीदित्यादि कः" जगतः प्रागवस्थानुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणं । अर्थात् देवासुर संग्राम वर्णन का नाम इतिहास और पहले यह असत् था और कुछ नहीं था इत्यादि जगत की प्रथम अवस्था का आरम्भ कर सृष्टि प्रक्रिया के वर्णन को पुराण कहते हैं ।

महामति शंकराचार्य ने भी बृहदारण्योपनिषद् के भाष्य में इतिहास पुराण का लक्षण प्रायः इसी प्रकार से किया है । यथा—"इतिहास इत्युर्वशी पुरूरवसोः सम्वादादि रुर्वशीहाप्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव । पुराणमसद्वा इदमग्र आसीदित्यादि" ।

तथान्यन्नारदीयंच मार्कंडेयं च सप्तमम् ।
आग्नेयमष्टमं चैव, भविष्यं नवमं स्मृतम् ॥
दशमं ब्रह्मवैवर्त्तं लैङ्गमेकादशं स्मृतम् ।
वाराहं द्वादशं चैव स्कान्दं चात्र त्रयोदशम् ॥
चतुर्दशं वामनं च कौर्मंपंचदशं स्मृतम् ।
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम् ॥

[विष्णु पु० ३ अं० ६ अ०]

अर्थात्—ब्राह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारदीय, मारकण्डेय, आग्नेय, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड ये अठारह पुराण ग्रन्थ हैं। इनकी श्लोक संख्या का परिमाण भी भागवत और मत्स्य पुराण में दिया है । पाठक वहां देख लें ।

[पुराणों की प्राचीनता]

पुराण शब्द पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि पुराण अत्यन्त प्राचीन हैं वेद-मंत्र ब्राह्मण-स्मृति इतिहास और पुराण सब में पुराण शब्द का उल्लेख देखने में आता है। अथर्व वेद, शतपथ ब्राह्मण बृहदारण्य और छांदोग्यादि उपनिषदों तथा मनु आदि स्मृति ओं एवं महा भारत आदि इतिहास पुराण ग्रन्थों में पुराण शब्द का स्पष्ट उल्लेख पाया

जाता है। (१) इससे उसकी प्राचीनता निर्विवाद है। परन्तु वर्तमान समय में पुराण नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं वे कितने प्राचीन हैं इसका निर्णय करना कठिन है। यद्यपि कतिपय ऐतिहासिक विद्वानों ने पुराणों के पौर्वापर्य तथा काल निर्णय के लिये

१—(क) ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषासह। [अथर्व ११-७-२४]

(ख) सबृहतीं दिशमनुव्यचलत्, तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नराशंसीश्चानुव्यचलन्। [अथर्व कां० १५ अनु० १ मू० ६ मं० १०—११]

(ग) अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या इत्यादि [श० कां १४ अ० ६ ब्रा० ६ कं० ११]

(घ) "सहोवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं" [छा० उ० प्र० ७ सनत्कुमार नारद सम्वाद]

(ङ) "अरेऽस्य महतो भूतस्यनिःश्वासितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणम्। [बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ मं० १०]

(च) स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैवहि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानिच। [मनु० अ० ३ श्लो० २३२]

(छ) पुराणं मानवो धर्मः सांगो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञा सिद्धानिचत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥ [म० भा०]

इन लेखों से प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के निर्माण काल में पुराण नाम के कोई ग्रन्थ अवश्य विद्यमान रहे होंगे। परन्तु उनके नाम और संख्या तथा परिमाण का कुछ पता नहीं चलता।

बहुत कुछ ऊहापोह किया है तथापि निश्चित रूप से इनका समय निर्णीत नहीं हो सका। इतना तो निर्विवाद है कि मंत्र ब्राह्मण और स्मृति आदि में जिन पुराणों का केवल पुराण नाम से-ज़िकर आता है वे पुराण इन पुराण ग्रन्थों से अवश्य भिन्न हैं। ये पुराण उन्हीं पुराणों के आधार पर लिखे गये हों ऐसा कदाचित् संभव हो सकता है। परन्तु इस विषय में तथ्य क्या है इसका निश्चय ऐतिहासिक विद्वान ही कर सकते हैं हमारा अल्प प्रयास तो केवल इतने के ही लिये है कि इन पुराणों में जैन धर्म के विषय में जो कुछ लिखा है उसका संग्रह करके सभ्य संसार के सामने परामर्श के लिये उपस्थित कर देना इससे उस समय की, समाज की धार्मिक परिस्थिति का सभ्य जनता को अच्छी तरह से परिचय मिल सकता है। इसी उद्देश से हम ने इस निबन्ध को लिखकर पाठकों की सेवा में उपस्थित किया है किसी मत या सम्प्रदाय की वृथा ही निन्दा अथवा प्रशंसा करने का हमारा अभिप्राय न कभी हुआ और न है। केवल वस्तु स्थिति से परिचय करा देना ही हमारा इस निबन्ध के लिखने का उद्देश है।

जितने पुराणों का उल्लेख ऊपर किया है उन सब में जैन-धर्म का ज़िकर नहीं। जिनमें है उन्हीं में से हम ने जैन-धर्म सम्बन्धी वाक्यों का उल्लेख किया है।

हमारा यह विश्वास है कि वर्तमान समय में जैन धर्म विषयिक जो भ्रम फैल रहा है उसका कारण पुराणों में दिये गये जैन-धर्म सम्बन्धी इति वृत्त ही हैं। इसी विषय पर हमने अपने विचार

जनता के समक्ष रखे हैं। वे अच्छे हैं या बुरे, इसका विचार पाठक स्वयं करें।

बहुत समय से यह निबन्ध लिखा पड़ा था उसके बाद समय की गति के अनुसार बहुत कुछ परिवर्तन भी हो चुका परन्तु हमने इसमें कुछभी परिवर्तन न करके इसे वैसेका वैसाही प्रकाशित करा दिया अन्त में सभ्य पाठकों से हमारा सविनय निवेदन है कि—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसंति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः॥

इस वाक्य के अनुसार हमारे लिखने अथवा विचार करने में कोई त्रुटि रह गई हो। [जिसका रहना स्वाभाविक है]—तो कृपा करके उसे स्वयं पूर्ण करलेवें।

जैन-धर्म के धार्मिक और सात्विक सिद्धांत अभी अन्धकार में पड़े हुए हैं उनका वास्तविक स्वरूप अभी संसार के सामने बहुत कम आया है। जैन-धर्म के अतिरिक्त उसके प्रतिवादी सम्प्रदाय के ग्रन्थों मे जैन-धर्म का जिस रूप में वर्णन कहीं कहीं पर आता है उस पर से जैन-धर्म के सिद्धांतों का निश्चय करना कभी अनुरूप नहीं हो सकता इस लिये जैन-धर्म के सिद्धांतों का निश्चय केवल प्रामाणिक जैन ग्रन्थो से ही करना उचित होगा, अन्यथा, भ्रम का होना अनिवार्य है परन्तु सभ्य संसार अब इस तरफ झुका है वह दिन अब बहुत ही समीप हैं जब कि जैन-धर्म के सिद्धांतो का वास्तविक स्वरूप उसी के धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार संसार के

सामने आयेगा और तटस्थ संसार उसके महत्त्व को अच्छी तरह से समझने के योग्य होगा।

किसी धर्म या सम्प्रदाय का इसलिये तिरस्कार कर देना कभी उचित नहीं कि उसके विचारों से हमारे विचार भिन्न हैं किन्तु उसके विचारों को मनन करके अपने विचारों के साथ उनकी मध्य स्थभाव से तुलना करनी और तुलना करके उचित विचारों को अपनाना ही एक तटस्थ विद्वान के प्रशस्त जीवन का मुख्य उद्देश होना चाहिये।

अन्त में सज्जनों से प्रार्थना है कि वे हमारे इस अल्प प्रयास का किसी न किसी रूप में सहयोग करने की ही कृपा करें।

—विनीत हंस।





मध्यस्थ वाद मालाया द्वितीयम् पुष्पम्

पुराण और जैन धर्म

नमोभूयान्महेशाय, परेशायात्मने नमः ।
जगद्धिताय देवाय, वीत दोषाय वेधसे ॥१॥



हिन्दू जनता को पुराणों के विषय में अधिक परिचय देना अनावश्यक है धर्म में अभिरुचि और श्रद्धा उत्पन्न करने वाले उनके कल्पित और ऐतिहासिक वृत्तान्त, आज भी उसकी हिन्दूजनता की—नस नस में व्याप्त हो रहे हैं। पुराणों में कहीं २ जैन धर्म का भी वर्णन पाया जाता है। उसमे अधिकांश उसकी उत्पत्ति का ही उल्लेख है परन्तु वह बड़ा ही अद्भुत और विचित्र है इस लेख में हम उसी विषय की तरफ पाठकों का ध्यान खैंचते हैं आशा है पाठक उसके अवलोकन की अवश्य कृपा करेंगे।

वर्त्तमान समय में पुराण नाम से प्रसिद्ध भागवतादि ग्रन्थों में जैन धर्म की चर्चा करते हुए, जन समाज को उससे घृणा दिलाने का बड़ा

प्रयत्न किया गया है। यद्यपि पुराण लेखकों को इस प्रयत्न में कुछ सफलता तो प्राप्त अवश्य हुई मगर इस प्रकार का कृत्य प्रतिष्ठित पुरुषों के लिये कितना शोभास्पद है यह भी विचार करने के योग्य है।

हमारे विचार में पुराण वेदों से किसी प्रकार भी कम महत्त्व के नहीं। वे हिन्दू-संसार के लिये बड़े मोल की वस्तु हैं! उनके शिक्षा-प्रद वाक्य बड़े ही कीमती है। प्राचीन हिन्दु-सभ्यता के वे पथ-प्रदर्शक हैं, इसलिये हिन्दू जनता की उन पर जितनी श्रद्धा हो उतनी कम है, परन्तु इतना स्मरण रखना जरूरी है कि कहीं श्रद्धादेवी का दिव्य सिंहासन, अन्ध श्रद्धा के पादस्पर्श से अपवित्र न होने पावे। अन्यथा बड़े ही अनर्थ की संभावना है। आज कल संसार में सत्यासत्य का निर्णय इसी लिए कठिन हो रहा है। अन्ध श्रद्धा मनुष्य के विचार स्वातन्त्र्य में बहुत बाधक है। हमारे ख्याल से विशुद्ध श्रद्धा का पक्षपाती और अन्ध श्रद्धा का विरोधी होना विचारशील मनुष्य का सब से पहला कर्त्तव्य होना चाहिये। इसी में उसको और जन समुदाय को लाभ है आशा है हमारे इस विचार में पाठकगण भी अवश्य सहमत होंगे।

[विरोध मूलक किम्वदन्ति]

सज्जनो!

"हस्तिना ताड्यमानोपिनगच्छेज्जैन मन्दिरम्"

यह उक्ति आवाल गोपाल प्रसिद्ध है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक में इसका प्रचार देखा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि "सामने से यदि हस्ती आता हो और उससे प्राण बचाने के लिये जैन मंदिर के सिवा और कोई स्थान न हो

जो, प्राण रक्षा के लिये जैन मन्दिर में घुसने की अपेक्षा हस्ती के नीचे आकर मर जाना बेहतर है परन्तु जीवन बचाने की खातिर भी जैन मंदिर में घुसना अच्छा नहीं !" इस उक्ति से जैन धर्म के साथ अन्य धर्मानुयायियों को किस सीमा तक प्रेम रखने का उपदेश मिलता है, इसकी कल्पना हमारी बुद्धि से बाहर है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की उक्तियों का प्रचार उस समय में होता है जब कि परस्पर की विरोधाग्नि, कल्पनातीत दशा तक पहुँच जाती है। परन्तु इसमें भी संदेह करना निरर्थक है कि उक्त किंवदन्ती के मूलोत्पादक पुराण-वर्णित जैनमत सम्बन्धी विचित्र इतिहास ही हैं। यदि इनमें, जैन ग्रन्थों में उल्लेख किये गये परमत विरोधी इतिवृत्त भी सम्मिलित हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। अस्तु अब हम इस अनधिकार चर्चा को यहीं पर समाप्त करते हुए प्रस्तुत विषय की ओर अपने पाठकों का ध्यान खेंचते हैं।

[श्रीमद्भागवत और जैन धर्म]

आज कल अठारह[1] पुराणों के नाम से जो जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें भागवत का नाम सब से अधिक प्रसिद्ध है। इस पुराण के लिये जनता के हृदय में जितना आदर है उतना अन्य पुराणों के विषय में नहीं। लोग इसकी कथा

---

(१) अष्टादश पुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते। ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवंच शैवं भागवतं तथा ॥ अथान्यन्नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमं। आग्नेयमष्टमं चैव भविष्यं नवमं तथा ॥ दशमं ब्रह्म वैवर्तं लैंगमेकादशं स्मृतम्। वाराहं द्वादशं चैव स्कान्दं चात्रत्रयोदशम् ॥ चतुर्दशं वामनंच कौर्मं पञ्चदशं स्मृतम् मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्ड चततः परम् ॥ [विष्णु पुराण ३ अंश अ० ६]

बड़ी ही श्रद्धा से सुनते हैं। इसमें जैनों के परमादरणीय भगवान् ऋषभदेव का चरित्र बड़ी ही सुन्दरता और विस्तार से वर्णन किया है। चरित यद्यपि जैन ग्रन्थों में उल्लेख किये गये ऋषभ चरित से भिन्न है (वस्तुतः होना भी चाहिये क्योंकि भागवत के रचयिता ने उन्हें विष्णु का अवतार मानकर चरित वर्णन किया है) परन्तु है बड़ा मनोहर और शिक्षाप्रद। उसमें भगवान् ऋषभदेव के सुन्दर उपदेश और अनुकरणीय वैराग्यमय जीवन का चित्र बड़ी खूबी से खींचा है उक्त ग्रन्थ के पांचवे स्कन्ध में चरित वर्णन के अनन्तर कुछ जैन धर्म का भी जिकर किया है। जिकर क्या उसकी उत्पत्ति का उल्लेख किया है। उल्लेख बड़ा विचित्र है अतः पाठकों के अवलोकनार्थ हम उसे यहां पर उद्धृत करते हैं।

यस्य किलानु चरित मुपाकर्ण्य कोङ्क वेङ्क कुट कानां राजा अर्हन्नामो पशिक्षय कला वधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्म पथ मकुतो भय मपहाय कुपथ पाखण्ड मसमंजसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते ॥ ९ ॥

येन सह वाव कलौ मनुजापसदा देव माया मोहिताः स्वविधिनियोग शौच चारित्र विहीना देव हेलना न्यपव्रतानि निजेच्छया गृह्वाना अस्नानाचमन शौच केशोल्लुं चनादीनिकलिनाऽधर्मबहु लेनो पहताधियो ब्रह्म ब्राह्मण यज्ञ पुरुप लोक विदूपकाः प्रायेण भविष्यन्ति ॥ १० ॥

ते च स्वह्यर्वाक्तनया निज लोकयात्रयान्धपरम्परया श्वस्तास्तमस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति ॥ ११ ॥

अयमवतारो रजसोपप्लुत कैवल्यो पशिक्षणार्थः॥

(स्कं० ५ अ० ६)

भावार्थ—जिस ऋषभदेव के चरित्र को सुन कर कोङ्कवेङ्क और कुटकादि देशों का अर्हन्नाम का राजा, श्री ऋषभदेव की शिक्षा को लेकर पूर्व कर्मों के अनुसार जब कलियुग में अधर्म अधिक हो जायगा तब अपने श्रेष्ठ धर्म को छोड़ कर कुपथ पाखंड मत—जोकि सब के विरुद्ध होगा—को निजमति से चलावेगा ।९। जिसके द्वारा कलियुग में प्रायः ऐसे नीच मनुष्य हो जावेंगे जोकि देव माया से मोहित हो कर अपनी विधि शौच और चारित्र से हीन एवं जिनमें देवताओं का निरादर हो ऐसे कुत्सित व्रतों-स्नान, आचमंन और शौच न रखना और केशलुञ्चन करना इत्यादि—को अपनी इच्छा से धारण करेंगे । जिसमें अधर्म अधिक है ऐसे कलियुग से नष्ट बुद्धि वाले, वेद, ब्राह्मण, यज्ञपुरुष (विष्णु) और संसार के निन्दक होंगे ॥ १० ॥ जिनके मत का मूल वेद नहीं है ऐसे वे पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार चलने और अन्ध परम्परा में विश्वास रखने से आप ही आप घोर नरक में पड़ेंगे ॥ ११ ॥ भगवान् का यह ऋषभावतार रजोगुण-व्याप्त मनुष्यों को मोक्ष मार्ग सिखलाने के लिये हुआ ।

विवेचक——पाठकों ने हमारे परमादरणीय भागवत पुराण के, जैन धर्म्म की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले भविष्य कथन को

सुन लिया। हम नहीं कह सकते कि इसमें सत्यांश कितना है। क्योंकि इतिहास के साथ तुलना करने पर उक्त कथन की सत्यता में बहुत कुछ सन्देह होता है। अतः विचारशील पुरुषों को इस पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

[क्या यह कथन वेदव्यास जी का होगा ?]

बहुत से लोगों का कथन और विश्वास है कि उक्त लेख एक आप्तकाम ऋषि व्यासदेव के विशुद्ध मस्तिष्क की उपज है। भगवान् ऋषभदेव के पवित्र चरित का वर्णन करते हुए सर्वज्ञ कल्प महर्षि व्यासदेव ने अपने दिव्य ज्ञान से देखा कि "जब अधर्म-बहुल घोर कलिकाल का आरम्भ होगा तब भगवान् ऋषभदेव के चरित को सुन और उनकी शिक्षा को ग्रहण कर कोङ्क वेङ्कादि देशों का अर्हन् नाम का राजा सर्वतः श्रेष्ठ निज धर्म को त्याग कर स्वमत्यानुसार वेद विरुद्ध पाखंड मत को चलावेगा। उसके प्रभाव से बहुत से ऐसे नीच मनुष्य उसके मत में शामिल होंगे जो स्नान आचमन आदि शौच क्रिया को त्याग देंगे, केशो को अपने हाथों से नोचा करेंगे और वेद, ब्राह्मण तथा विष्णु आदि की निन्दा करेंगे एवं स्वेच्छाचारी होने से अन्त में वे घोर नरक मे पड़ेंगे" यह जान कर ऋषि के विशुद्ध अन्तःकरण मे दया का स्रोत उमड़ आया। (सत्य है ऋषि जन स्वभाव से ही दयालु होते हैं) इसलिये अनन्य कृपालु ऋषि ने कई सहस्र वर्ष प्रथम ही इसे प्रकाशित कर दिया, जिससे कि विवेकशील पुरुष सचेत रहें। इसमें ऋषि का कुछ दोष नहीं। उनको अपने दिव्यज्ञान में भावी परिस्थिति का जैसा भान

हुआ वैसा ही उन्होने संसार के समक्ष रख दिया, तदनुसार कलियुग के आरम्भ में अर्हन् नाम के राजा द्वारा एक वेद विरुद्ध पाखंड मत की उत्पत्ति हुई जो कि वर्तमान समय में जैन मत कहा जाता है इत्यादि। इस पर बहुत से लोग यूं कहते हैं कि इस प्रकार के प्रमाण शून्य और महत्त्व बिना के लेख को महर्षि वेदव्यास जैसे विशुद्धात्मा के दिव्य ज्ञान की उपज बतलाना उनके पवित्र नाम पर सरासर अत्याचार करना है। जो लोग उक्त कथन रूप मुलम्मे को महर्षि वेदव्यास के नाम की मोहर लगा कर सोटच का सोना दिखा कर बाजार में बेचना चाहते हैं, वे कम से कम इतना तो सोच लें कि जब इसको इतिहास और सत्तर्क रूप कसौटी पर लगाया गया तब भी वह मोहर काम देगी या नहीं ? कोई भी कथन हो उसकी सत्यता के लिये सर्व मान्य किसी प्रमाण विशेष की आवश्यकता हुआ करती है परन्तु भागवत के उक्त कथन में सिवाय भागवत के अन्य कोई प्रमाण नहीं जिससे कि उक्त कथन की सत्यता प्रमाणित हो सके। कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ उक्त कथन में सहमत नहीं। कोङ्क वेङ्कादि देशों का कोई अर्हन् नाम का राजा हुआ हो ऐसा किसी इतिहास ग्रन्थ में देखने मे नहीं आया एवं अर्हन् नाम के राजा ने जैन धर्म्म की नींव डाली हो ऐसा भी सिवा भागवत के अन्यत्र कहीं लिखा हुआ देखने में नहीं आता, हां! जैनों के माने हुए ऋषभादि तीर्थंकरही अर्हन्नाम से प्रसिद्ध हैं उन्हीं के द्वारा जैन धर्म का प्रचार संसार में हुआ, जैन लोग मानते हैं।

जैनों का विश्वास और कथन है कि इस अवसर्पिणी काल में श्री ऋषभ देवजी से लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी तक

जितने तीर्थङ्कर हुए हैं उन्होंने ही समय समय पर जैन धर्म का प्रचार किया और वे ही अर्हन् के नाम से कहे जाते हैं इनके सिवाय अर्हन् नाम का कोई अन्य राजा जैन धर्म का प्रवर्त्तक नहीं हुआ।

[जैनों के कथन की जांच]

श्री मद्भागवत में जैन धर्म की उत्पत्ति के विषय में जो कुछ लिखा गया है वह महर्षि व्यासदेव का कथन है या अन्य किसी का, इसकी तरफ दृष्टि न देते हुए उक्त लेख को भागवत के रचयिता का ही समझ कर उस पर विचार करना हमारे ख्याल में उचित प्रतीत होता है परन्तु उस पर विचार करने से पहले जैनों के कथन की जांच कर लेनी हमें कुछ अधिक उचित प्रतीत होती है। जैन लोग, इस अवसर्पिणी काल में जैन धर्म के आद्य प्रवर्त्तक ऋषभ देव को मानते हैं। भगवान् ऋषभ देव से जैन धर्म का वही सम्बन्ध है जो कि एक सूत्रधार का भजनीय किसी नाटक से। जिस तरह नाटक की शुरूआत प्रथम सूत्रधार करता है उसी तरह इस अवसर्पिणी में जैन धर्म का प्रारम्भ भी प्रथम, ऋषभदेव से हुआ है। भगवान् ऋषभदेव के अनन्तर श्री महावीर स्वामी तक तेईस तीर्थंकर धर्म प्रवर्त्तक-अवतार और हुए हैं जिन में से पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी का नाम अधिक प्रसिद्ध है। इन चौबीस तीर्थंकरों को ही अर्हन् या अरिहन्त कहते हैं। जैन मन्दिरों में प्रतिष्ठित जो मूर्तियें देखी जाती हैं वे सब इन्हीं तीर्थंकरों की हैं। तात्पर्य यह कि जैन धर्म के आद्य प्रवर्त्तक ऋषभदेव हैं उन्होंने ही संसार में जैन धर्म का प्रथम प्रचार किया येही जिन अर्हन् या अरिहन्त के नाम से प्रसिद्ध हैं इन के सिवा अन्य कोई अर्हन् नाम का राजा जैन

धर्म का प्रवर्त्तक नहीं हुआ। यही जैन धर्म की सभी शाखाओं का सिद्धान्त है।

परन्तु जैनों के इतने कथन मात्र से ही इस विषय का निश्चय नहीं हो सकता, सम्भव है उन्होंने अपने मत को अधिक प्राचीन और विशेष प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये ही अपने आधुनिक ग्रन्थों में ऋषभदेव के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ दिया हो एतावन् मात्र से भागवत का उक्त कथन मिथ्या नहीं हो सकता इसलिये किसी विशिष्ट प्रमाण की तलाश करनी चाहिये। इस प्रकार की शंकाओं को दूर करने के लिये, जैनों की तरफ से जो अन्य प्रबल प्रमाण पेश किये जाते हैं उनका यहां पर दिग्दर्शन कराना हम आवश्यक समझते हैं। आशा है कि उससे भागवत पुराण के उक्त लेख पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा।

[जैन धर्म का ऋषभदेव से सम्बन्ध बतलाने वाले शिला लेख]

भगवान् ऋषभदेव के साथ जैन धर्म का विशिष्ट सम्बन्ध बतलाने वाले अन्यान्य प्रमाणों में से मथुरा के शिला लेख कुछ अधिक विश्वासार्ह प्रतीत होते हैं ये लेख अनुमान दो हजार वर्ष के पुराने बतलाये जाते हैं। इनका प्रादुर्भाव स्वनाम धन्य डाक्टर फुह्रर (Fuhrer) के अगाध परिश्रम से हुआ है प्रोफेसर बुलहर (Bulher) ने एपीग्रेफिया इन्डिका (Epigraphia Indica) नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की है उसकी प्रथम और द्वितीय जिल्द में जैन धर्म से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से शिलालेख प्रका-

दित हुए हैं। उन में से इस समय सिर्फ हम दो शिलालेख यहां पर उद्धृत करते हैं। आशा है पाठक उनसे ही बहुत कुछ नतीजा निकाल सकेंगे?

नं० २८

(A) भगवतो उसभस वारणे गणे नाडिके कुले...सा (पं)

(B) धुक सवायक समि सिनए सादिता एनि—॥

भा०—भगवान् उषभ (ऋषभ) की जय हो सादिता की प्रार्थना पर जो वारणगण के उपदेश, नांदिक कुल और शाखा के—धुक की चेली थी— [जिल्द दूसरी पृ० २७६–२७७]

नं० ८

(A) सिद्धम् म (हा) रा (ज) स्य र (T जा) तिराजस्य देव-पुत्रस्य हुवष्कस्य स ४० (६०१) हेमंतमासे ४ दि १० एतस्यां पूर्वायां को दिये गणे स्थानिकीये कुल अग्य (वेरी) पाण शाखाया वाचस्यार्थ वृद्ध हस्ति (स्य)

(B) शिष्यस्य गणिस्य आर्यस्व (र्ण) स्य पुष्यम (न)

(स्य) (व) तकस्य

(C) मकस्य कुटुम्बिनी ये दत्ताये—न धर्मो महा भागो गताय प्रीयनाम्भगवानृपभ श्रीः

भा०—जय! प्रसिद्ध राजा महाराजाधिराज देव पुत्र हुवस्क के संवत् ४० (६०१) में हेमंत के चतुर्मास की दशमी को इस ऊपर लिखी हुई मिति को यह उत्कृष्ट दान वनिता निवासी का........ पात्रक की स्त्री दत्ताने पूज्य वृद्ध हस्ति आचार्य जो कोत्तियगण, शाकिनीय कुल और आर्यवज्री शाखा में से था उसके शिष्य मान-

नीय रत्नत्रय गणी की प्रार्थना पर किया था भगवान् श्री ऋषभ प्रसन्न हों। [जिल्द पहली पृष्ठ ३८६]

इन शिला लेखों से मालूम होता है कि दो हज़ार वर्ष के करीब जैनधर्म में ऋषभदेव जी की पूजा प्रचलित थी, वे जैनधर्म के आद्य प्रवर्त्तक समझे जाते थे, जैसा कि आज कल के जैनों का विश्वास है। कुछ भी हो इन लेखों से जैनधर्म के आद्य प्रवर्तक कोई ऋषभ-देव अवश्य सिद्ध होते हैं, वे चाहे भागवत में उल्लेख किये गये ऋषभ देव हों या कोई अन्य हों, परन्तु अर्हन् नाम का कोई अन्य राजा जैनधर्म का प्रवर्तक नहीं हुआ। इसी बात पर और भी प्रकाश डालने वाला, उक्त दोनो शिला लेखों में भी प्राचीन और विस्तृत हाथी गुफा का शिला लेख है परन्तु वह इस माला के किसी अन्य पुष्प में उद्धृत किया जावेगा। भागवत के लेख की मीमांसा के लिये तो इतना ही पर्याप्त है।

[श्रीमद् भागवत के लेख पर विचार]

अब रहा श्रीमद्भागवत का लेख, सो एक प्रकार से तो उसकी जांच हो चुकी उसकी सत्यता अनिश्चित है। अर्हन् नाम की किसी राजव्यक्ति द्वारा जैन धर्म की उत्पत्ति का कथन सर्वथा कल्पित प्रतीत होता है। उसमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं प्रत्युत उसके विरुद्ध ही प्रमाण मिलते हैं: जिनका कि ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है। परन्तु बहुत से विद्वानो का ख्याल इस विषय मे विचित्र है, उनके विचार का अनादर करना भी हमारे लिये उचित नहीं। अतः उनके विचार की आलोचना के लिये भी प्रकारान्तर से उक्त लेख पर विचार करना हमें आवश्यक और उचित प्रतीत होता है।

[पुराण ग्रन्थ धार्मिक हैं ऐतिहासिक नहीं]

पुराणों के विषय में बातचीत होने पर हमारे एक सुयोग्य विद्वान् ने कहा कि—"हम पुराणों को ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं मानते। वे हमारी धार्मिक पुस्तकें हैं। जो लोग पुराणों को ऐतिहासिक ग्रन्थ समझ रहे हैं वे बड़ी भारी गलती पर हैं। उनके द्वारा पुराणों का बड़ा भारी अनादर हो रहा है और प्रतिदिन उनका महत्त्व कम हो रहा है।" पाठक, इस कथन के मर्म को अच्छी तरह समझ गये होंगे अब हम इस पर कहें तो क्या कहें? इस हालत में तो भागवत के उक्त लेख पर कुछ विचार करने के लिये प्रवृत्त होना मानो उसकी अवहेलना करना है क्योंकि श्रीमद्भागवत धर्म ग्रन्थ है और धर्मग्रन्थ के उल्लेख के सामने प्रामाणिक से प्रामाणिक इतिहास भी कुछ कीमत नहीं रखता। इतिहास और धर्म में बड़ा अन्तर है क्योंकि इतिहास मनुष्य कृत हैं और इन धार्मिक ग्रन्थों के रचयिता ऋषि हैं। ऋषि बुद्धि के सामने मनुष्य की तीक्ष्ण से तीक्ष्ण बुद्धि भी कुंठित हो जाती है। वह ऋषि बुद्धि के समक्ष इतनी हैसियत भी नहीं रखती जितनी कि सूर्य के सामने जुगनू के प्रकाश की होती है। सम्भव है इतिहास में कुछ भूल हो, सम्भव है इतिहास के लेखकों ने स्वार्थ वश कुछ गोलमाल करदी हो। तथा उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों को तो अप्रमाणिक कहने में हम स्वतन्त्र हैं और उनमें गलती भी हो सकती है परन्तु धर्म ग्रन्थों में किसी प्रकार की भूल या त्रुटि का होना असम्भव है, कदापि हो तो हमें अधिकार नहीं कि हम उनके विषय में कुछ कह सकें। क्योंकि वे

धर्म ग्रन्थ हैं उनमें भूल या त्रुटि का ख्याल करना पाप है, इस प्रकार के पाप से सदा बचते रहना ही धर्मात्मा बनने का सुन्दर उपाय है इसलिये जैन धर्म के प्रवर्त्तक चाहे ऋषभ-देव ही हों, वह—जैन धर्म—चाहे प्राचीन हो और उसके सिद्धान्त भी भले उत्तम हों तथापि उसके विषय में भागवत में जो कुछ लिखा गया है वही सत्य और सर्वथा मानने योग्य प्रतीत होता है इसलिये उसी पर विश्वास रखना धार्मिक सज्जनों को उचित है।

सज्जनो! जिन धर्मात्माओं के इस प्रकार के विचार हैं उनके धर्म विश्वास की तुलना नीचे लिखे एक उदाहरण से बहुत अच्छी तरह हो सकती है। "एक भद्र पुरुष को किसी कार्य के निमित्त कुछ समय के लिये विदेश जाना पड़ा, घर मे उसकी एक मात्र स्त्री थी वह जितनी गञ्जु भाषिणी थी उतनी ही व्यभिचार प्रिया भी थी इसलिये पति के विदेश जाने के थोड़े ही दिन बाद उसने किसी दूसरे सज्जन से अपना नाता जोड़ लिया, परन्तु अपने निज पति से सदा के लिये छुटकारा पाने की उसे बहुत फिकर रहती थी। एक दिन उसने अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये एक बड़ा ही सुन्दर उपाय ढूंढ निकाला। उसके दूसरे ही दिन वह अपने उपपति को साथ लेकर वहां के न्याय मन्दिर कचहरी मे पहुची और वहां नम्रतापूर्वक न्यायाधीश-जज से कहने लगी कि—न्यायावतार! मुझ हत भागिनी का प्राणधन-पति विदेश में जाकर कुछ दिन हुए इस संसार से सदा के लिये चल बसा? मेरा एक मात्र सर्वस्व वही था, अब मैं सर्वथा असहाय हूं लाचार होकर अब मुझे अपने धर्म पर प्रहार

करना पड़ता है ! धर्मावतार इस सहाय हीन किङ्करी को आज्ञा दें तो मैं आपके सामने खड़े हुए इस भद्र पुरुष को अपना आश्रयदाता बनाऊं ? उस रमणी की बनावटी दीनता से न्यायाधीश महोदय का भी दयालु हृदय पिघल गया इसलिये उन्होंने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर उसे वैसा करने के लिये आज्ञा दे दी और क़ानून के मुताबिक इस सारी राम कहानी को क़लम वन्द कर लिया (सब वृत्तान्त की मिसल वन गई) कुछ दिन के वाद उसके असली पतिराम भी विदेश से लौटे, और जब वे घर में आये तो वहां उनको और ही रंग नज़र आया ! वह गुड़िया जिसको वह अपने प्राणों से अधिक समझता था वह अब दूसरे के हाथों में खेल रही है, उसकी तरफ अब नज़र उठाकर भी देखने का अधिकार नहीं रहा ! समय की बलिहारी है ! अन्ततो गत्वा उस विचारे ने भी उसी न्यायालय की शरण ली। और न्यायाधीश से गिड़गिड़ा कर बोला कि धर्मावतार! मेरे साथ बहुत अन्याय हुआ, मेरे विदेश जाने पर मेरी स्त्री को किसी अन्य पुरुष ने जबरदस्ती अपने काबू में कर लिया है और मेरी सारी धन सम्पत्ति लूट ली है इसलिये सरकार उसे वापिस दिलाने की कृपा करें ? यह सुन न्यायाधीश महोदय बोले कि तुम तो विदेश में जाने के कुछ दिन बाद ही मर गये थे फिर तुम्हारा यहां पर आगमन कैसे ? यह सुन वादी को बहुत विस्मय हुआ और वह बड़े ही गदगद स्वर मे बोला कि नहीं महाराज ! यह कथन सर्वथा असत्य है यह गरीब तो आपके सामने खड़ा है ? इस पर न्यायाधीश महोदय जरा चुपके से होकर बोले कि हां ! बात तो ठीक है लेकिन मिसल में लिखा हुआ है

कि तुम विदेश में जाकर मर गये हो। मुझे अफ़सोस है कि मैं तुम्हारे जिन्दा होने पर भी अब कुछ नहीं कर सकता क्योंकि मिसल कहती है कि तुम मर गये? अतः विवश होकर मुझे तुम्हारा मुकद्दमा खारिज करना पड़ता है। बस यही दशा इन धर्म प्रेमियों की है जिनके विचारों का उल्लेख हमने ऊपर किया है पर-मात्मा ऐसे सज्जनों को सुमति दे।

(भागवत के उक्त लेख पर प्रकारान्तर से विचार)

श्री मद्भागवत मे जैन धर्म की जिस प्रकार से उत्पत्ति बतलाई गयी है वह यद्यपि इतिहास से सर्वथा विरुद्ध अतएव अप्रमाणिक प्रतीत होती है तथापि एक ऋषि प्रणीत ग्रन्थ के उल्लेख को किसी इतिहास के आधार पर मिथ्या ठहरा देना उचित नहीं क्योंकि इस से श्रद्धादेवी का बड़ा अपमान होता है! इसलिये ऐतिहासिक मार्ग को छोड़ कर भागवत और उसके समतोल अन्य पुराण ग्रन्थों से ही उक्त लेख की मीमांसा करनी हमारे ख्याल में ठीक होगी।

रेवा खण्ड में लिखा है कि "अष्टा दशपुराणानां वक्ता सत्यवतीसुतः" अठारह पुराणों के वक्ता व्यासदेव हैं। यदि यह कथन सत्य है तब तो अन्यान्य पुराणों का कथन भी भागवत के उल्लेख के समान ही हमें मान्य है एवं अन्य पुराण ग्रन्थ भी भागवत की तरह ही हमारे धर्म ग्रन्थ और विश्वास भूमी हो सकते हैं। यदि ऐसा ही है तब तो भागवत के उक्त लेख की जांच पुरा-णान्तर से करनी चाहिये अर्थात् पुराणान्तर में जहां जैन मत की उत्पत्ति का जिकर किया है उसकी तुलना भागवत के उक्त लेख से

करनी चाहिये, यदि अन्यान्य पुराणों में भी भागवत के लेखानुसार ही जैन मत की उत्पत्ति का कथन हो तब तो श्रद्धालु पुरुषों का, भागवत के उक्त लेख में सन्देह करना व्यर्थ है परन्तु मत्स्य और शिव पुराण के देखने से पता लगता है कि उनमें जैन धर्म की उत्पति का उल्लेख, भागवत के उक्त कथन से सर्वथा भिन्न है। पाठकों को आगे चल कर यह बात स्पष्ट हो जावेगी। इस दशा में श्रीमद्भागवत का उक्त कथन कहाँ तक विश्वासार्ह हो सकता है यह पाठक महोदय स्वयं विचार लें? अस्तु अब भागवत के कथन पर ही कुछ दृष्टि पात करना चाहिये। भागवत के रचयिता का कथन है कि, अर्हन् है नाम जिसका ऐसा कोङ्क वेङ्क और कुटकादि देशों का राजा ऋषभ के चरित को सुन और उसकी शिक्षा को ग्रहण कर निजमति से कलियुग में जैनमत के चलाने वाला होगा उसके मानने वाले वेद, ब्राह्मण और विष्णु आदि के निन्दक होंगे और अन्ध परम्परा में विश्वास रखने से घोर नर्क में पड़ेंगे इत्यादि। इस कथन में सत्यांश कितना है इसकी परीक्षा तो पाठक कर चुके हैं परन्तु इस पर एक विचारक के हृदय में जो सन्देह उत्पन्न होते हैं उनका समाधान किस प्रकार हो सकता है। इसका ख्याल भी रखना जरूरी है। तथा

(प्रश्न १—)—भगवान् ऋषभ देव का चरित्र यही है जो कि भागवत मे लिखा है या और कोई? यदि यही है तो उसे और भी किसी ने सुना है या कि नहीं? यदि अन्य भी सुनने वाले थे तो उनमे से किसी ने वेद विरुद्ध (जैन) मत का प्रचार क्यों न किया? यदि ऋषभचरित्र कोई और है तो कहां? और किस ग्रन्थ में लिखा है?

(प्रश्न—२)—ऋषभदेव के चरित्र में कोई ऐसा अंश भी है जो कि वेद से विरुद्ध हो? यदि है? तो—[*अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या द्वीपेषु वर्षेष्वधि पुण्यमेतत्। गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति ॥१३॥ अहोनुवंशोयशसावदातः प्रैयव्रतो यत्र पुमान्पुराणः। कृतावतारः पुरुषः स आद्यश्चचारधर्मं यदकर्महेतुम॥१४॥ कोन्वस्य काष्ठामपरोनुगच्छेन्मनोरथेनाप्यभवस्य योगी। यो योगमायाःस्पृहयत्युदस्ता ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः ॥१५॥ इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणं परममहामङ्गलायनमिदमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्रावयति वा वहितो भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते। [१६– स्कं० ५ अध्या० ६] इस कथन की क्या गति होगी? इसमें

---

*अहो सप्तसागर परिवेष्टित पृथिवी के द्वीप समूह में यह भारतवर्ष बड़ा ही पुण्यशाली है, जहां कि लोग भगवान् मुरारि ऋषभावतार के समस्त मङ्गलमय कर्मों का गायन करते हैं। अहो! पुराण पुरुष भगवान्, प्रियव्रत के वंश में जन्म लेकर मनुष्यों के लिये मोक्ष धर्म का आचरण कर गये हैं। इससे प्रियव्रत का वंश यश द्वारा बहुत ही विशुद्धि को प्राप्त हुआ है। वे अज थे, मनोरथ द्वारा भी कोई योगी उनका अनुगमन नहीं कर सकते, असत्य समझ कर वे जिन समस्त योगविभूतियों की उपेक्षा कर गये हैं, अन्य योगी जन उन्हीं की प्राप्ति के लिये बहुत यत्न करते हैं। हे राजन्! ऋषभदेव, लोक, वेद, ब्राह्मण और गौ के परम गुरु थे, भगवान् ऋषभदेव का यह पवित्र चरित्र (जो प्रकाशित हुआ है) पुरुषों के समस्त दुश्चरित्र का नाशक और परम महत् मङ्गल का आगार है, अतः जो लोग एकाग्र चित्त से श्रद्धा पूर्वक इसे सुनते और सुनवाते हैं उनको वासुदेव में बहुत दृढ भक्ति उत्पन्न होती है।

तो उनके चरित्र की बहुत प्रशंसा की गई है। यदि ऋषभदेव के चरित्र में ऐसा कोई भी अंश नहीं जो कि वेद और शास्त्र से विरुद्ध हो, तो उसी को सुनकर अर्हन नाम के किसी राजा ने जैन मत का प्रचार किया, इसका क्या तात्पर्य ? क्या ऋषभदेव का चरित और उनकी शिक्षा जैन धर्मके अनुकूल है? अथवा क्या जैन धर्म के सिद्धान्त ऋषभचरित और शिक्षा के अनुसार हैं ? यदि नहीं तो फिर समझ में नहीं आता कि अर्हन नाम के किसी राजा द्वारा चलाये जाने वाले जैन धर्म का हेतु ऋषभदेव के चरित और शिक्षा के श्रवण और मनन को ही कैसे ठहराया जा रहा है ! यदि अनुकूल है तो उसे वेद विरुद्ध कहना असंगत होगा। यदि कहा जाय कि अर्हन् नाम के किसी राज व्यक्ति ने अपनी स्वतन्त्र कल्पना से जैन मत का प्रचार किया ? तब फिर ऋषभदेव के चरित और शिक्षा को बीच में लाना निरर्थक है ? वस्तुतः भगवान् ऋषभदेव का जो सम्बन्ध बतलाया जाता है उससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि वर्तमान जैन धर्म का सम्बन्ध भगवान् ऋषभदेव से ही है और वे ही अर्हन् हैं। अनेक यत्न करने पर भी भागवत के रचयिता से इस सत्य पर पर्दा न पड़ सका। "अयमवतारोरजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः" यह कथन इस आशय को अच्छी तरह स्फुट कर रहा है। अस्तु कुछ भी हो जैन धर्म को अर्वाचीन बनाने और जन समाज को उससे घृणा दिलाने के लिये भागवत के नाम से किसी धर्मात्मा ने जो यह षड्यन्त्र रचा है वह संसार में बुद्धिमत्ता का एक नमूना है ।

जैन-मत की उत्पत्ति और आग्नेय पुराण।



छ समय पहले बहुत से विद्वानों का ख्याल था कि जैन धर्म कोई स्वतन्त्र धर्म नहीं, वह बौद्ध धर्म से निकला हुआ, उसकी शाखा मात्र है। परन्तु जब से जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर जैकोबी तथा कितने एक अन्य विद्वानों ने इस विषय की पूरी पूरी शोध की और प्रबल प्रमाणों द्वारा इस बात (जैन धर्म बौद्ध धर्म की शाखा है) को मिथ्या सिद्ध कर, जैन धर्म को बौद्ध धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र और बहुत प्राचीन सिद्ध कर दिखाया तब से यह भ्रम बहुत अंश में तो दूर हो चुका है। मगर ऐसे सज्जनों की भी अभी तक कुछ कमी नहीं है जो कि अपनी उसी तान में मस्तान हैं! औरों के विषय में तो क्या कहना है मगर हमारे, वर्तमान समय के सुप्रसिद्ध हिन्दी सुलेखक और सुकवि श्रीमान् बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त ने भी अभी तक इस सन्देह को दूर नहीं किया। आपने अपनी सुप्रख्यात पुस्तक "भारत भारती" में जैन धर्म को बौद्ध धर्म की ही शाखा बतलाया है जैसे:—

प्रकटित हुई थी बुद्ध विभु के चित्त में जो भावना—
पर-रूप में अन्यत्र भी प्रकटी वही प्रस्तावना।
फैला अहिंसा बुद्धि वर्द्धक जैन पन्थ समाज भी,
जिसके विपुल साहित्य की विस्तीर्णता है आज भी॥

[२०८ भारत-भारती]

और तो कुछ नहीं मगर गुप्त महोदय जैसे सत्य-प्रेमी और निष्पक्ष सुलेखकों की लेखिनी के यह अनुरूप प्रतीत नहीं होता।

एक इतिहास लेखक सज्जन तो यहां तक आगे बढ़े हैं कि उन्होंने जैन धर्म को बौद्ध-धर्म को शाखा बतलाते हुए, गौतम बुद्ध को ही-(जैनों के अन्तिम तीर्थङ्कर) महावीर स्वामी के नाम से उल्लेख किया है। तथाहि—

(बौद्ध धर्म भारतवर्ष से बिलकुल ही निर्वापित नहीं हो गया। वर्तमान पौराणिक धर्म पर उसने जो प्रभाव डाला है वह कुछ कम नहीं, अपने पीछे उसने एक विशेष सम्प्रदाय को छोड़ा जो जैन नाम से अब तक भारतवर्ष में प्रचलित है। लगभग १५ लाख जैन इस समय इस देश में पाये जाते हैं।............... भारतवर्ष के जैन प्राय: सौदागर वा साहूकार हैं। उनका सिद्धान्त है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से भी पुराना है और बुद्ध की शिक्षा का आधार जैन मत ही था। परन्तु भारत के ऐतिहासिक निरीक्षण से यही पता चलता है कि बौद्ध और जैन धर्म वास्तव मे एकही हैं और गौतम-बुद्ध जैन धर्म में महावीर स्वामी के नाम से परिचित हैं।)

[[1] भारतवर्ष का सच्चा इतिहास पृष्ठ २०८]

हमारे विचार में इस प्रकार के संशय और भ्रम के प्रचलित होने का कारण भी पुराण ग्रन्थों में, जैन धर्म विपयिक किये गये

(१) लेखक रघुवीरशरण डबलिस, मिलने का पता मैनेजर भास्कर प्रेस मेरठ शहर। पाठकों को स्मरण रहे कि यह दशा सच्चे इतिहास की है। अगर कहीं सच्चा न होता तब तो ईश्वर जाने इसमें क्या क्या लिखा जाता। भगवान् ऐसे इतिहास लेखकों का भला करें।

उल्लेख ही हैं। उदाहरणार्थ आग्नेय पुराण में से कुछ लेख यहां पर उद्धृत किया जाता है पाठक उसे खूब ध्यान से पढ़ें ? तथाहि—

अग्निरुवाच—

वक्ष्ये बुद्धावतारं च पठतः शृणुतोऽर्थदम्।
पुरा देवासुरे युद्धे दैत्यैर्देवाः पराजिताः ॥१॥
रक्ष रक्षेति शरणं वदन्तो जग्मुरीश्वरम्।
मायामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत् ॥२॥
मोहयामास दैत्याँस्तान् त्याजता वेदधर्मकम्।
ते च बौद्धा वभूवुर्हि तेभ्योऽन्ये वेदवर्जिताः ॥३॥
आर्हतः सोऽभवत्पश्चादार्हतानकरोत्परान्।
एवं पाषण्डिनो जाता, वेदधर्मादिवर्जिताः ॥४॥*

[अग्नि पुराण अध्याय ४९]

(आनन्द आश्रम सिरिफ का अग्नि पु० अ० १६ श्लोक १–४)

आलोचक—

पाठकों ने जैन धर्म के विषय में श्रीमद्भागवत के अनन्तर अग्नि पुराण के कथन को भी सुन लिया ? कथन, एक से एक बढ़कर है।

---

*अग्नि पुराण के ऊपर दिये श्लोकों का तात्पर्य इस प्रकार है—अग्निदेव बोले, कि अब मैं बुद्ध के अवतार को कहता हूँ। यह पढ़ने और सुनने से मन-कामना पूर्ण करने वाला है। पूर्व किसी समय में देवों और दैत्यों का बड़ा भारी युद्ध हुआ उसमें देवता लोग दैत्यों से हार गये। वे सब मिलकर अपनी रक्षा के

भागवत में तो लिखा है कि ऋषभदेव के चरित्र को सुन और उनकी शिक्षा को ग्रहण कर अर्हन नाम के किसी राजा ने जैन मत का प्रचार किया, और यहां अग्निपुराण का कथन है कि बुद्ध भगवान् ने ही पश्चात् जैन बनकर उक्त मत को चलाया। अब हम दोनों में से सत्य किसे कहें और मिथ्या किसे ठहरायें। इस बात की पाठक खुद आलोचना करें? हमारे ख्याल में तो इस प्रकार के लेखों में परस्पर विरोध का देखना, और उनमें सन्देह का उत्पन्न करना ही हमारे अधिकार से बाहर है। क्योंकि ये ग्रन्थ ऋषि प्रणीत कहे जाते हैं, अतः ऋषियों के रहस्य भरे लेखों को ऋषि ही समझ सकते हैं। हमारे जैसे स्वल्प मेधावी मनुष्यों का उनकी आलोचना में प्रवृत्त होना छोटे मुंह बड़ी बात कहने के मानिन्द है अतः इस विषय में हमें तो 'मौनं-सर्वार्थसाधकं' ही ठीक जचता है। परन्तु धन्य है उन लोगों को जो इस प्रकार के आधारों पर ही जैन धर्म का इतिहास लिखने बैठ जाते हैं।

लिये विष्णु भगवान् की शरण को प्राप्त हुए। तब भगवान् ने मोह और माया के स्वरूप शुद्धोदन-सुत (बुद्ध) के अवतार को धारण किया और दैत्यों को मोह कर उनसे वेद धर्म का परित्याग करा दिया। उनके उपदेश से वे दैत्य तथा वेद मार्ग से भ्रष्ट अन्य लोग बौद्धमतानुयायी बने पश्चात् वह (बुद्ध) आर्हत (जैन) बना और उसने जैन बनाये। इस प्रकार वेद धर्म से भ्रष्ट पाखण्ड लोगों की उत्पत्ति हुई।

[विष्णु पुराण]

विष्णुपुराण में लिखा है कि:—

इत्युक्तो भगवांस्तेभ्यो मायामोहं शरीरतः ।
समुत्पाद्य ददौ विष्णुः प्राहचेदं सुरोत्तमान् ॥ ४१ ॥
महामोहोयमखिलान् दैत्यांस्तान्मोहयिष्यति ।
ततो वध्या भविष्यन्ति वेदमार्गवहिष्कृताः ॥ ४२ ॥
स्थितौ स्थितस्य मे वध्या यावन्तः परिपन्थिनः ।
ब्रह्मणो येऽधिकारस्था देवदैत्यादिकाः सुराः ॥ ४३ ॥
तद्गच्छत न भीकार्या महामोहोयमग्रतः ।
गच्छत्वद्योपकाराय भवतां भविता सुराः ॥ ४४ ॥

पाराशर उवाचः—

इत्युक्ताः प्रणिपत्येनं ययुर्देवा यथागतम ।
महामोहोऽपि तैः सार्द्धं ययौ यत्र महासुराः ॥४५॥

[अंश ३ अध्याः १७]

[वंगवासी एलेक्ट्रो मशीन प्रेस मे मुद्रित वंगला आवृत्ति विष्णुपुराण अंश ३ अध्याय १७-१८ जैन धर्म]

पाराशर उवाचः—

तपस्यभिरतान् सोऽथ महामोहो महासुरान् ।
मैत्रेय ! ददृशो गत्वा नर्मदा तीरसंश्रितान् ॥ १ ॥

ततो दिगम्बरो मुण्डो वर्हिपत्रधरो द्विज !
मायामोहोऽसुरान्श्लक्ष्णमिदंवचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

महामोह उवाचः—

भो दैत्यपतयो ! ब्रूत यदर्थं तप्यते तपः ॥
ऐहिकं वाथ पारत्र्यं तपसः फलमिच्छथ ॥ ३ ॥

असुरा ऊचुः—

पारत्र्यफललाभाय तपश्चर्या महामते ।
अस्माभिरियमारब्धा किं वा तेऽत्र विवक्षितम्॥ ४ ॥

महामोह उवाचः—

कुरुध्वं मम वाक्यानि यदि मुक्तिमभीप्सथ ।
अर्हध्वं धर्ममेतंच मुक्तिद्वारमसंवृतम् ॥ ५ ॥
धर्मो विमुक्तेरर्होयं नैतस्मादपरः परः ।
अत्रैवावस्थिताः स्वर्गं विमुक्तिं वा गमिष्यथ ॥ ६ ॥
अर्हध्वं धर्ममेतं च सर्वे यूयं महाबलाः ।
एवं प्रकारैर्बहुभिर्युक्तिदर्शनवर्द्धितैः ॥ ७ ॥
मायामोहेन दैत्यास्ते वेदमार्गादपाकृताः ।
धर्मायैतदधर्माय सदेत्तन्नसदित्यपि ॥ ८ ॥
विमुक्तयेत्विदन्नैतद्विमुक्तिं सम्प्रयच्छति ।
परमार्थोयमत्यर्थं परमार्थो न चाप्ययम् ॥ ९ ॥

कार्यमेतदकार्यं च नैतदेवं स्फुटंत्विदम् ।
दिग्वाससामयंधर्मो धर्मोयं वहुवाससाम् ॥ १० ॥
इत्यनैकान्तवादं च मायामोहेन नैकधा ।
तेन दर्शयता दैत्याः स्वधर्मात्त्याजिता द्विज ! ॥११॥
अर्हथेमं महाधर्मं महामोहेन ते यतः ।
प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन् ॥ १२ ॥
त्रयीधर्मसमुत्सर्गं मायामोहेन तेऽसुराः ।
कारितास्तन्मया ह्यासं तथान्ये तत्प्रबोधिताः ॥ १३ ॥
तैरप्यन्ये परेतैश्च तैरप्यन्ये परे च तैः ।
अल्पैरहोभिः सन्त्यक्ता तैर्दैत्यैःप्रायशस्त्रयी ॥ १४ ॥
पुनश्चरक्ताम्बरधृङ् मायामोहो जितेक्षणः ।
अन्यानाहासुरान् गत्वा मृद्वल्पमधुराक्षरम् ॥ १५ ॥
स्वर्गार्थं यदि वाञ्छावो निर्वाणार्थमथासुराः ।
तदलं पशुघातादि दुष्टधर्मैर्निबोधत ॥ १६ ॥
विज्ञानमयमेवैतदशेषमवगच्छथ ।
बुध्यध्वं मे वचः सम्यग बुधैरेवमुदीरतम् ॥१७॥
जगदेतदनाधारं भ्रान्तिज्ञानार्थतत्परम् ।
रागादिदुष्टमत्यर्थं भ्राम्यते भवसंकटे ॥१८॥

पाराशर उवाच:—

एवं बुध्यत बुध्यत्वं बुध्यतैवमितीरयन् ।
महामोहः स दैतेयान् धर्ममत्याजयन्निजम् ॥१६॥
नानाप्रकारवचनं स तेषां युक्तियोजितम् ।
तथा तथा च तद्धर्मं तत्यजुस्ते यथा यथा ॥२०॥
तेप्यन्येषां तथैवोचु रन्यैरन्ये तथोदिताः ।
मैत्रेय! तत्यजुर्धर्मं वेदस्मृत्युदितं परम् ॥२१॥
अन्यानप्यन्यपाखंडप्रकारैर्बहुभिर्द्विज! ।
दैतेयान् मोहयामास मायामोहोतिमोहकृत् ॥२२॥
स्वल्पेनैव हि कालेन मायामोहेनतेऽसुराः ।
मोहितास्तत्यजुःसर्वां त्रयीमार्गाश्रितां कथाम् ॥२३॥
केचिद्विनिन्दां वेदानां देवानामपरे द्विज! ।
यज्ञकर्मकलापस्य तथान्ये च द्विजन्मनाम् ॥२४॥
नैतद्युक्तिसहंवाक्यं हिंसाधर्माय नेष्यते ।
हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम् ॥२५॥
यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते ।
शम्यादि यदि चेत्काष्टं तद्वरं पत्रभुक्पशुः ॥२६॥
निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।
स्वपिता यजमानेन किंतुकस्मान्नहन्यते ॥२७॥

तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः ।
दद्याच्छ्राद्धं श्रद्धयान्नं न वहेयुः प्रवासिनः ॥२८॥

इत्यादि ....

मायामोहेन ते दैत्याः प्रकारैर्बहुभिस्तथा ।
व्युत्थापिता यथा नैषांत्रयीं कश्चिदरोचयत् ॥२९॥
इत्थमुन्मार्गयातेषु तेषु दैत्येषु तेऽमराः ।
उद्योगं परमं कृत्वा युद्धाय समुपस्थिताः ॥३०॥
ततो देवासुरं युद्धं पुनरेवाभवद्द्विज ! ।
हताश्चतेऽसुरा देवैः सन्मार्गपरिपन्थिनः ॥३१॥

[अ० १८ अंश ३]

भावार्थः—एक वक्त देवता और असुरों का बड़ा भारी युद्ध हुआ उसमें देवों का पराजय और असुरों की जीत हुई। पराजित होकर देवता लोग विष्णु भगवान की शरण में आये और आकर विष्णु की बहुत सी स्तुति करने के बाद, असुरों पर विजय प्राप्त करने के लिये उनसे प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना को सुन विष्णु ने अपने शरीर से "माया मोह" नाम के एक पुरुष को उत्पन्न करके देवताओं से कहा कि आप इसे ले जाइये। यह "मायामोह" सभी दैत्यों को मोह लेगा, फिर वेद मार्ग से भ्रष्ट हुए दैत्य लोग (आपके द्वारा) वध किये जा सकेंगे। हे देवों ! देव अथवा दानव जितने भी वेद मर्यादा के विरोधी हैं वे सभी मेरे द्वारा वध करने के योग्य

है। इसलिये आप लोग जाओ, किसी प्रकार का भय मत करो।। आपके उपकारार्थ यह "मायामोह" आपके साथ जाता है।।४१-४४।।

इस प्रकार विष्णु ने जब उनको समझाया तब सभी देव-गण उनको प्रणाम कर अपने २ स्थान को चले और "मायामोह" भी उनके साथ हो लिये। वे सब वहां आ पहुंचे जहां पर असुर लोग तप कर रहे थे।

पाराशर जी कहते है हे मैत्रेय ! नर्मदा के किनारे पर तपस्या में लगे हुए असुर लोगों को मायामोह ने आकर देखा और शरीर से नग्न, सिर मुडा हुआ और हाथ में मोर पंखी लिये हुए, बड़े मधुर स्वर से "मायामोह" ने उन दैत्य लोगो से कहा कि, हे दैत्य लोगो ! आप यहां किस लिये तप कर रहे है ? आपको ऐहिक [इस लोक में होने वाले] फल की इच्छा है वा पारलौकिक [पर लोक मे होने वाले] फल की अभिलाषा है ? यह सुन असुरो ने कहा कि हमने यह तपश्चर्या, पारलौकिक फल की इच्छा से आरम्भ की है, आप कहे आपको इस में क्या वक्तव्य है ? इस पर "माया-मोह" ने कहा कि यदि आपको मोक्ष की इच्छा है तो आप मेरे कथन को मानो ? आप लोग इस (आर्हत-जैन) धर्म का सेवन करो। यह धर्म मोक्ष का खुला दरवाजा है। मुक्ति के लिये इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं। इसी धर्म मे आरूढ़ हुए आप लोग स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कर सकोगे ? इसलिये आप इसी धर्म का अनुष्ठान कीजिये। इस प्रकार अनेक युक्तियों द्वारा "मायामोह" ने उन दानवो को वेद मार्ग से पराङ्मुख कर दिया। जैसे कि—यह धर्म के लिये है और अधर्म के लिये भी। यह वस्तु सत् है

और असत् भी है। यह कर्म मोक्ष के लिये है और मोक्ष का विरोधी भी है। यह परमार्थ है और परमार्थ नहीं भी। यह करने योग्य है और नहीं करने लायक भी है। एवं यह इस प्रकार है और नहीं भी। यह [स्याद्वाद] दिगम्बरों और श्वेताम्बरों का समान धर्म है। हे मैत्रेय! इस तरह अनेक प्रकार से अनेकान्तवाद को बतलाते हुए उस मायामोह ने दैत्यों से स्वधर्म [वेद विहित धर्म] का परित्याग करा दिया। जिस लिये मायामोह ने असुरों से "इमं धर्म अर्हथ" [इस धर्म का पूजन करो] इसमें "अर्हथ" ऐसे कहा, इसलिये उस धर्म के अनुयायी आर्हत-जैन-कहलाये। इस प्रकार मायामोह ने जिन असुरों से वैदिक धर्म का परित्याग कराया वे तन्मय होकर अन्यों को उपदेश करने लगे और उन्होंने औरों को उपदेश दिया इस तरह थोड़े ही दिनों मे प्रायः सभी दैत्य, वैदिक धर्म का त्याग कर बैठे ॥१–१४॥

फिर वही माया मोह [जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है] रक्त वस्त्रों को धारण कर, अन्य असुरों के पास जा, बड़ी मधुर वाणी से कहने लगे कि, हे असुर लोगो! यदि आपको स्वर्ग अथवा मोक्ष की अभिलाषा है तो आप इस पशु वधादि दुष्ट कर्म को छोड़ दो। सुनो! यह सम्पूर्ण जगत विज्ञान मात्र है। आप लोग मेरे कथन को अच्छी तरह से समझो। विद्वानो का कथन है कि यह जगत आधार से शून्य और भ्रान्ति मात्र ही है। यह मनुष्य रागादि से दुष्ट हुआ ही संसार में भ्रमण कर रहा है। तुम लोग समझने लायक जो है उसे समझो? इस प्रकार कहते हुए माया-मोह ने उन दैत्यों को अपने धर्म से गिरा दिया। वह "मायामोह–"

अनेक प्रकार की उक्ति-युक्तियों से भरे हुए वचन, जैसे २ उन-दैत्यों-को सुनाता गया, वैसे २ वे अपने धर्म का परित्याग करते गये। जिन असुरों ने अपने धर्म को त्याग दिया, वे अन्यों को उपदेश करने लगे अन्य औरों को, इसी तरह हे मैत्रेय! बहुत से दैत्यों ने वेद विहित धर्म को त्याग दिया। तथा उस मायामोह ने बहुत प्रकार के अन्यान्य पाखण्डों के उपदेश द्वारा अन्य असुरों को भी मोह लिया, जिससे थोड़े ही समय में मायामोह द्वारा मोहित हुए असुर लोग वेदोक्त धर्म को सर्वथा त्याग बैठे। उनमें से बहुत से तो वेदों की निन्दा करने लग गये और बहुत से देवों की, तथा कितने एक यज्ञ कर्म कलाप और कई एक ब्राह्मणों की निन्दा में प्रवृत्त हो गये। जैसे कि—यह वेदोक्त कथन युक्ति सह नहीं, और वेदोक्त हिंसा धर्म के लिये नहीं हो सकती, अग्नि में डाले हुए हविः का स्वर्गादिफल होता है यह कथन बालकों के कथन के समान है। अनेक यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा देवत्व को प्राप्त हुआ इन्द्र यदि शमि आदि काष्ठ का भक्षण करता है तो, उससे पत्रभोजी पशु ही श्रेष्ठ है। यदि यज्ञ में मारे हुए पशु को स्वर्ग मिलता है तो यजमान (यज्ञ कर्ता) अपने पिता को ही यज्ञ में क्यों नहीं मार डालता? यदि श्राद्ध में एक मनुष्य का खाया हुआ भोजन, दूसरे को तृप्त कर देता है तो मुसाफिरों को साथ में खाना उठाने की क्या आवश्यकता? क्योंकि उसके नाम से घर में किसी दूसरे को खिला देने से ही, उसकी तृप्ति हो जायगी। ॥ १५-२८ ॥

इस प्रकार, अनेक तरह की उक्तियों द्वारा मायामोह ने उन असुर लोगों को ऐसा बना दिया कि उनमें से किसी की भी श्रद्धा

वेदोक्त धर्म पर न रहा। इस प्रकार जब सब दैत्य लोग सन्मार्ग छोड़ कुमार्ग गामी हो गये तब देवताओं ने पुनः युद्ध के लिये उद्योग किया और असुरों के साथ फिर से उनका बड़ा भारी युद्ध हुआ। परन्तु इस वक्त [स्वधर्म द्वेषी और कुमार्ग सेवी] असुरों को देवों ने जीत लिया। अर्थात् इस समय के देवासुर संग्राम में असुरों की हार और देवों की जीत हुई।

आलोचक—पाठकों ने विष्णु पुराण की जैन-धर्म विषयिणी उक्ति को सुनलिया। इसका संक्षिप्त सार यही है कि, विष्णु भगवान् ने अपने शरीर से उत्पन्न किये मायामोह नाम के एक पुरुष विशेष द्वारा जैन और बौद्ध धर्म का उपदेश दिलाकर असुर लोगो से वेद विहित यज्ञ यागादि धर्मों का परित्याग करा दिया। वेदोक्त मार्ग का परित्याग कर देने से असुर लोग निर्बल हो गये, अतः दूसरी बार के युद्ध मे देवताओं ने उनको जीत लिया।

[विष्णु पुराण के लेखका भागवत और आग्नेय पुराण से विरोध]

विष्णु पुराण के उक्त लेख की श्रीमद्भागवत और आग्नेय पुराण के पूर्वोक्त लेखो के साथ तुलना करते हुए बहुत कुछ विरोध मालूम पड़ता है।

(१) श्रीमद् भागवत में जैन-धर्म का प्रवर्तक कोई अर्हन नाम का राजा बतलाया है वह भी भागवत के निर्माण काल मे प्रथम नहीं किन्तु बहुत समय पीछे जबकि घोर कलियुग का समय होगा इस प्रकार भविष्यद् वाणी की घोषणा की है परन्तु विष्णु पुराण

का ध्यान पूर्वक अवलोकन करने से जान पड़ता है कि जैन-धर्म के प्रचारक साक्षात विष्णु भगवान ही हैं दूसरा कोई नहीं ?

(२) श्रीमद् भागवत में अर्हन् राजा के जैन होने और जैन-धर्म का प्रचारक बनने का मूल कारण ऋषभावतार की शिक्षा और चरित्र को बतलाया है मगर विष्णु पुराण में इस बात का जिकर तक नहीं। एवं आग्नेय पुराण में लिखा है कि विष्णु भगवान ने प्रथम बुद्ध-के अवतार को धारण कर बौद्ध-धर्म का उपदेश दिया और बाद में अर्हन्-जिन-बनकर जैन-धर्म का प्रचार किया। तात्पर्य कि अग्नि पुराण के कथनानुसार बौद्ध धर्म के बाद जैन-धर्म का होना साबित होता है। परन्तु विष्णु पुराण का लेख इससे उलटा है अर्थात् उसके अनुसार जैन-धर्म के अनन्तर बौद्ध-धर्म का होना प्रतीत होता है। अब इन कथनों की संगति किस प्रकार लगाई जा सके यह हमारी तुच्छ बुद्धि से बाहर है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के लेख महर्षि पुंगव भगवान् वेद व्यास के नाम को तो कुछ न कुछ अवश्य लांछित करते हैं। अतः विद्वानों को उचित है कि वे इस विषय पर अवश्य प्रकाश डालें ?।

[विष्णु पुराण के लेख में विचित्रता]

हमारे पाठकों ने जैन धर्म विषयक श्रीमद्भागवत और अग्निपुराण के कथन का अवलोकन कर लेने के बाद, विष्णु पुराण के उस लेख को भी पढ़ लिया है जोकि जैन धर्म की उत्पत्ति और विषय से संबन्ध रखता है। तथा इनमें परस्पर जो विरोध है उसका भी दिग्दर्शन ऊपर के लेख में करा दिया गया है अब मात्र विष्णु पुराण

के लेख में जो परस्पर विरोध मूलक वैचित्र्य है उसकी ओर भी पाठक ध्यान दें। विष्णुपुराण मे उल्लेख किये "दिग्वाससामयं धर्मो धर्मोऽयं बहुवाससाम्" तथा "अर्हथेमं महाधर्मं मायामोहेन तेयतः। प्रोक्तास्तमाश्रितं धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन्" इन दो वाक्यों को ध्यान पूर्वक देखने से बहुत कुछ विचित्रता प्रतीत होती है। ऊपर के आधे श्लोक में तो जैन धर्माभिमत सप्त भंगीनय का संक्षिप्त स्वरूप बतलाते हुए यह कहा है कि यह [अनेकान्तवाद-स्याद्वाद] दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनों का समान धर्म-मत है। दूसरे श्लोक में जो कुछ कहा है उसका तात्पर्य यह है कि इस [स्याद्वाद रूप] महा धर्म के जो अनुयायी बने वे आर्हत्-जैन कहलाये। इनमें इस दूसरे श्लोक के कथन से तो यह साबित होता है कि जैन धर्म के प्रथम प्रवर्तक विष्णु भगवान के शरीर से उत्पन्न हुए "मायामोह" नाम के कोई पुरुष विशेष है, उन्होंने ही असुरों को प्रथम इस धर्म का उपदेश दिया। [वे ही बाद में बौद्ध धर्म के प्रवर्तक हुए] परन्तु ऊपर के अर्द्ध श्लोक मे तो कुछ और ही प्रतीत होता है। उस पर विचार करने से मालूम होता है कि इससे बहुत समय पूर्व ही जैन धर्म के सिद्धान्त प्रचार मे आ चुके थे। जहां तक कि "माया-मोह" के उपदेश समय मे तो यह दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो मुख्य शाखाओं मे भी विभक्त हो चुका था। तात्पर्य यह है कि बहुत समय से चले आते जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त का ही मायामोह ने असुरो को उपदेश किया, न कि निजमति से उन्होंने किसी एक नवीन मत की नींव डाली। इसलिये इन विरोधी कथनो की संगति किस प्रकार लगाई जाय। इसका विचार भी पाठकों के

लिए आवश्यक है ? हमारे ख्याल में तो इस प्रकार के विरोधां की उपस्थिति और उसकी संगति के लिए अनेक प्रकार की बाधायें तभी हमारे सामने उपस्थित होती हैं जब कि हम इस प्रकार के परामर्श के लिए ऐतिहासिक दृष्टि को अपने सामने रखते हैं, नहीं तो धार्मिक दृष्टि के सामने इस प्रकार के विरोधी को पूछता ही कौन है ? बढ़े हुए धार्मिक दृष्टि रूप नदी के प्रचण्ड वेग में तो शंकाओं के बड़े २ पहाड़ भी बह जाते हैं तो फिर एक मामूली से विरोध रूप एक क्षुद्र तृण की तो गणना ही व्यर्थ है। अतः विष्णु पुराण के उक्तलेख मे विरोध देखने वाले सज्जनों को ऐतिहासिक दृष्टि की जगह धार्मिक दृष्टि से काम लेना चाहिये ! बस धार्मिक दृष्टि के सामने आते ही सब विरोध काफूर हो जावेगे। सज्जनो ! धार्मिक दृष्टि कोई बुरी चीज़ नहीं, धार्मिक दृष्टि मनुष्य जीवन का सर्वोत्तम गुण है, धार्मिक विश्वास मनुष्य के लिए उतना ही उपयोगी है जितना कि धूप मे मुर्झाये हुए एक छोटे से पौदे के लिये जल। इसलिये जिस जीवन में धार्मिक विश्वास नहीं वह नीरस है, शुष्क है और निकम्मा है ! अतः हमारा कटाक्ष धार्मिक दृष्टि पर नहीं किन्तु उसकी निर्मर्यादता और दुरुपयोगिता पर है। आशा है कि सहृदय पाठक इतने ही में हमारे असली अभिप्राय को समझ गये होंगे ?

[विष्णु पुराण के उक्त लेख का समय]

विष्णु पुराण की रचना किस समय में हुई इस बात का यद्यपि अभी तक कुछ निश्चय नहीं हुआ और न इसका यथावत निर्णय होना कुछ शक्य ही प्रतीत होता है, तथापि उक्त लेख के

विषय में इतना निःशंक कहा जा सकता है कि यह लेख, जैन पश्चाद्भावी बौद्ध-धर्म के भी बहुत समय पीछे का है। क्योंकि उक्त लेख में सब जगह प्राय भूतकाल की क्रिया का ही प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

[द्वेष की पराकाष्ठा]

विष्णु पुराण के देखने मे एक बात और भी प्रतीत होती है वह यह कि उस समय जैन और बौद्ध धर्मानुयायियों के साथ अन्य धर्मानुयायियों का इतना विरोध बढ़ रहा था कि वे इनके साथ स्पर्श और सम्भाषण करने में भी पाप समझते थे।

[तस्मादेतान्नरोनग्नांस्त्रयीसंत्यागदूपितान्।
सर्वदा वर्जयेत् प्राज्ञः आलाप स्पर्शनादिषु ॥]

[अ० १८ अंश ३]

तथाहि—इस सम्बन्ध मे वहां एक कथा है कि शत धनुः राजा और उसकी "शैब्या" नाम की भार्या दोनो बड़े धर्मात्मा तथा विष्णु के परम भक्त थे। एक समय कार्तिकी पौर्णिमा को उन दोनों ने उपवास किया दोनो गङ्गा मे स्नान करने को गये जब वे वहां से स्नान कर लौटे तो रास्ते मे उनको एक पाखण्डी-जैन अथवा बौद्ध साधु मिल गया। वह राजा के धनुर्विद्याचार्य का मित्र था इस लिये राजा को उसके साथ बोलना पड़ा, मगर रानी ने उससे किसी प्रकार का सम्भाषण नहीं किया। रानी तो मर कर काशीराज की पुत्री बनी और राजा कुत्ता बना रानी को जाति का स्मरण ज्ञान होने के कारण उसने राजा को पूर्व जन्म का बोध कराया। वह

फिर मर कर क्रमशः गीदड़, व्याघ्र, गृध्र, काक, और मयूरादि की योनि में फिरता हुआ अन्त में जनक राजा के घर में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। परन्तु यह मनुष्य योनी उसे तब मिली जब कि अश्वमेध यज्ञ के अन्त में होने वाले अवभृथ स्नान का उसे सौभाग्य प्राप्त हुआ। "पाराशर ऋषि कहते हैं हे मैत्रेय! मैंने यह पाखंडी के साथ सम्भाषण करने का दोष और अश्वमेध में होने वाले अवभृथ स्नान का माहात्म्य तुमको सुना दिया"—

एष पाषण्डिसम्भाषदोषः प्रोक्तो मया द्विज!।
तथाश्वमेधावभृथस्नानमाहात्म्यमेवच्च ॥

[अं० ३ अ० १८]

अब पाठक इससे नतीजा निकाल सकते हैं अथवा समझ सकते हैं उस समय में आपस का द्वेष किस सीमा तक पहुंचा हुआ था। हमारे ख्याल में तो वर्तमान समय में, जैन तथा अन्य धर्मावलम्बियों मे जो द्वेष की मात्रा प्रति दिन बढ़ रही है अथवा बढ़ी हुई है उसका कारण इस प्रकार की भद्रकथायें और यत्र तत्र दिये गये (श्लोको द्वारा) सभ्य उपदेश ही हैं। क्योंकि "नह्यमूला प्रवृत्ति" कुछ भी हो दुःख सिर्फ इतना ही है कि इस प्रकार की उक्तियों की पुष्पमाला भी महर्षि व्यासदेव जी के ही गले में डाली जाती है जिसके लिये वे सर्वथा योग्य नहीं? क्या ही अच्छा हो जो कि इस अमूल्य भेंट से उन विचारों को वंचित ही रखा जाय। इसके सिवाय उक्त लेखकी बहुत सी बाते परीक्षा करने के योग्य हैं परन्तु विस्तार भय से हम उनका यहां पर जिक्र नहीं करते। हमारे सुज्ञ पाठकों के लिये इतना ही पर्याप्त है।

[शिव पुराण]

शिव पुराण में भी जैन धर्म की उत्पत्ति का कुछ जिकर है। उसमें जो कुछ लिखा है वह पूर्वोक्त पुराण ग्रन्थों के लेख से भी विलक्षण है। पाठकों के विनोदार्थ उसे भी हम यहां पर उद्धृत करते हैं:—तथाहि—

सनत्कुमार उवाचः—

असृजच्च महातेजाः पुरुषं स्वात्मसम्भवम्।
एकं मायामयं तेषां धर्मविघ्नार्थमच्युत ॥१॥
मुण्डिनं म्लानवस्त्रं च गुंम्फिपात्रसमन्वितम्।
दधानं पुंजिकां हस्ते चालयंतं पदे पदे ॥२॥
वस्त्रयुक्तं तथा हस्तं क्षिप्यमाणं मुखेसदा।
धर्मेति व्याहरन्तं तं वाचा विक्लवया मुनिम्॥३॥
स नमस्कृत्य विष्णुं तं तत्पुरस्संस्थितोऽथवै।
उवाच वचनं तत्र हरिं सः प्रांजलिस्तदा ॥४॥
अरिहन्नच्युतं पूज्यं किं करोमि तदादिश।
कानि नामानि मे देव स्थानं वापि वद प्रभो ॥५॥
इत्येवं भगवान् विष्णुः श्रुत्वा तस्य शुभं वचः।
¹प्रसन्नमानसो भूत्वा वचनं चेदमब्रवीत् ॥६॥

[कलकत्ता बंगाल आवृत्ति शिवपुराण ज्ञान सं० अ० २१-२२ पृ० ८३ थोड़े फेर फार से मिलता है।]

¹ स मूलरं युष्टि इति पाठः।

विष्णुरुवाचः—

यदर्थं निर्मितोसि त्वं निबोध कथयामि ते ।
मदंगज महाप्राज्ञ मद्रूपस्त्वं न संशय ॥७॥
ममांगाच्च समुत्पन्नो मत्कार्यं कर्त्तुमर्हसि ।
मदीयस्त्वं सदा पूज्यो भविष्यसि न संशयः ॥८॥
अरिहन्नाम ते स्यात्तु ह्यन्यानि च शुभानि च ।
स्थानं वक्ष्यामि ते पश्चाच्छृणु प्रस्तुतमादरात् ॥९॥
मायिन् ! मायामयं शास्त्रं तत्षोडशसहस्रकम् ।
श्रौतस्मार्तविरुद्धं च वर्णाश्रमविवर्जितं ॥१०॥
अपभ्रंशमयं शास्त्रं कर्मवादमयं तथा ।
रचयेति प्रयत्नेन तद्विस्तारो भविष्यति ॥११॥
ददामि तव निर्माणे, सामर्थ्यं तद्भविष्यति ।
माया च विविधा शीघ्रं त्वदधीना भविष्यति ॥१२॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य, हरेश्च परमात्मनः ।
नमस्कृत्य प्रत्युवाच स मायी तं जनार्दनम् ॥१३॥

मुण्ड्युवाचः—

यत्कर्तव्यं मयाऽण्ड्युदेव द्रुतमादिश तत्प्रभो ! ।
त्वदाज्ञयाऽखिलं कर्म सफलञ्च भविष्यति ॥१४॥

सनत्कुमार उवाचः—

इत्युक्त्वा पाठयामास शास्त्रं मायामयं तथा।
इहैवस्वर्गनरकप्रत्ययोनान्यथा पुनः ॥१५॥
तमुवाच पुनर्विष्णुः स्मृत्वा शिवपदाम्बुजम्।
मोहनीया इमे दैत्याः सर्वे त्रिपुरवासिनः ॥१६॥
कार्यास्ते दीक्षिता नूनं पाठनीयाः प्रयत्नतः।
मदाज्ञया न दोषस्ते भविष्यति महामते ॥१७॥
धर्मास्तत्र प्रकाशन्ते श्रौतस्मार्ता न संशय।
अनया विद्यया सर्वे स्फोटनीया ध्रुवं हि ते॥१८॥
गन्तुमर्हसि नाशार्थं मुण्डिन्! त्रिपुर वासिनाम्।
तमोधर्मं सम्प्रकाश्य नाशयस्व पुरत्रयम् ॥१९॥
ततश्चैव पुनर्गत्वा मरुस्थल्यां त्वया विभो!
स्थातव्यं च स्वधर्मेण कलिर्यावत् समाव्रजेत् ॥२०॥
प्रवृत्ते तु युगे तस्मिन् स्वीयोधर्मं प्रकाश्यताम्।
शिष्यैश्च प्रतिशिष्यैश्च वर्द्धनीयस्त्वया पुन. ॥२१॥
मदाज्ञया भवद्धर्मो विस्तारं यास्यति ध्रुवम्।
मदनुज्ञापरो नित्यं गतिं प्राप्स्यसि मामकीम् ॥२२॥

स० पु० वेद भ्रष्ट यं यं।

एवमाज्ञा तदा दत्ता विष्णुना प्रभविष्णुना ।
शासनाद्देवदेवस्य हृदात्वन्तर्दधे हरिः ॥२३॥

ततः स मुण्डी परिपालयन् हरे,
राज्ञां तथा निर्मितवांश्च शिष्यान् ।
यथा स्वरूपं चतुरस्तदानीं,
मायामयं शास्त्रमपाठयत् स्वयम् ॥२४॥

यथास्वयं तथा ते च चत्वारो मुण्डिनः शुभाः ।
नमस्कृत्यास्थिता स्तत्र हरये परमात्मने ॥२५॥
हरिश्चापि मुनेस्तत्र चतुरस्तांस्तदा स्वयम् ।
उवाच परमप्रीतः शिवाज्ञापरिपालकः ॥२६॥
यथा गुरुस्तथा यूयं भविष्यथ मदाज्ञया ।
धन्याःस्थ सद्गातिमिह सम्प्राप्स्यथ न संशयः॥२७॥
चत्वारो मुण्डिनस्तेऽथ धर्मंपाषण्डमाश्रिताः ।
हस्तेपात्रंदधानश्च तुण्डवस्त्रस्य धारकाः ॥२८॥
मलिनान्येव वासांसि धारयन्तोऽल्पभाषिणः ।
धर्मोलाभः परन्तत्वं वदन्तस्त्वतिहर्षतः ॥२९॥
मार्जनींध्रियमाणाश्च वस्त्रखण्डविनिर्मिताम् ।
शनैःशनैश्चलन्तो हि जीवहिंसाभयाद्ध्रुवम् ॥३०॥

ते सर्वे च यदा देवं भगवन्तं मुदान्विताः ।
नमस्कृत्य पुनस्तत्र मुने तस्थुस्तदग्रतः ॥२१॥
हरिणा च तदा हस्ते धृत्वा च गुरवेऽर्पिताः ।
अन्यधायी च सुप्रीत्या तन्नामापि विशेषतः ॥२२॥
यथा त्वं च तथैवैते मदीया वै नसंशयः ।
आदिरूपं च तन्नाम पूज्यत्वात्पूज्य उच्यते ॥२३॥
ऋषिर्यतिस्तथाकार्य उपाध्याय इतिस्वयम् ।
इमान्यपितु नामानि प्रसिद्धानि भवन्तु वः ॥२४॥
ममापि च भवद्भिश्च नाम ग्राह्यं शुभं पुनः ।
अरिहन्निति तन्नाम ध्येयं पापप्रणाशनम् ॥२५॥
भवद्भिश्चैव कर्तव्यं कार्यं लोकसुखावहम् ।
लोकानुकूलं चरतां भविष्यत्युत्तमागतिः ॥२६॥

सनत्कुमार उवाच—

ततःप्रणम्य तं मायी शिष्ययुक्तःस्वयं तदा ।
जगाम त्रिपुरं सद्यः शिवेच्छाकारिणं मुदा ॥२७॥
प्रविश्य तत्पुरं तूर्णं विष्णुना नोदितोऽवशी ।
महामायाविना तेन ऋषिर्मायां तदाकरोत् ॥२८॥
नगरोपवने कृत्वा शिष्यैर्युक्तः स्थितिं तदा ।

मायां प्रवर्तयामास मायिनामपि मोहिनीम् ॥३९॥
शिवार्चनप्रभावेन तन्माया सहसा मुने ! ।
त्रिपुरे न चचालाशु निर्विण्णोऽभूत्तदायतिः ॥४०॥
अथ विष्णुं च सस्मार तुष्टाव च हृदावहुः ।
नष्टोत्साहो विचेतस्को हृदयेन विदूयता ॥४१॥
तत्स्मृतस्त्वरितं विष्णुः सस्मार शंकरं हृदि ।
प्राप्याज्ञां मनसा तस्य स्मृतवान्नारदं द्रुतम् ॥४२॥
स्मृतमात्रेण विष्णोश्च नारदःसमुपस्थितः ।
नत्वा स्तुत्वा पुरस्तस्य स्थितोभूत् सांजलिस्तदा॥४३
अथ तं नारदं प्राह विष्णुर्मतिमतांवरः ।
लोकोपकारनिरतो देवकार्यकरस्तदा ॥ ४४ ॥
शिवाशयोच्यते तात गच्छ त्वं त्रिपुरं द्रुतम् ।
ऋषिस्तत्र गतः शिष्यैर्मोहार्थं तत्सुवासिनाम् ॥४५॥

सनत्कुमार उवाच—

इत्याकर्ण्य वचस्तस्य नारदो मुनिसत्तमः ।
गतस्तत्र द्रुतं यत्र स ऋषिर्मायिनां वरः ॥४६॥
नारदोपि तथा मायी नियोगान्मायिनः प्रभोः ।
प्रविश्य तत्पुरं तेन मायिना सह दीक्षितः ॥४७॥

ततश्च नारदो गत्वा त्रिपुराधीशसन्निधौ ।
क्षेमप्रश्नादिकं कृत्वा राज्ञे सर्वं न्यवेदयत् ॥४८॥

नारद उवाच—

कश्चित्समागतश्चात्र यतिर्धर्मपरायण ।
सर्वविद्याप्रकृष्टो हि वेदविद्या परान्वितः ॥४६॥
दृष्टाश्च बहवो धर्मा नैतेन सदृशाः पुनः ।
वयं सुदीक्षिताश्चात्र दृष्ट्वा धर्मं सनातनम् ॥५०॥
तवेच्छा यदि वर्तेत तद्धर्मे दैत्यसत्तम ! ।
तद्धर्मस्य महाराज ग्राह्या दीक्षा त्वया पुनः ॥५१॥

सनत्कुमार उवाच—

तदीयं स वचःश्रुत्वा महदर्थसुगर्भितम् ।
विस्मितो हृदि दैत्येशो जगौ तत्र विमोहितः ॥५२॥
नारदो दीक्षितो यस्माद्वयं दीक्षामवाप्नुम ।
इत्येवं च विदित्वा वै जगाम स्वयमेव ह ॥५३॥
तद्रूपं च तदा दृष्ट्वा मोहितो मायया तथा ।
उवाच वचनं तस्मै नमस्कृत्य महात्मने ॥५४॥

त्रिपुराधिप उवाच—

दीक्षा देया त्वया मह्यं निर्मलाशय ! भोऋषे! ।
अहं शिष्यो भविष्यामि सत्यं सत्यं न संशयः॥५५॥

इत्येवं तु वचःश्रुत्वा दैत्यराजस्य निर्मलम् ।
प्रत्युवाच सुयत्नेन ऋषिः स च सनातनः ॥५६॥
मदीया करणीयास्याद्यद्याज्ञा दैत्यसत्तमः ।
तदा देया मया दीक्षा नान्यथा कोटियत्नतः ॥५७॥
इत्येवं तु वचः श्रुत्वा राजा मायामयोऽभवत् ।
उवाच वचनं शीघ्रं यतिं तं हि कृतांजलिः ॥५८॥

दैत्य उवाचः—

यथाज्ञां दास्यति त्वं च तत्तथैव न चान्यथा ।
त्वदाज्ञां नोल्लंघयिष्ये सत्यं सत्यं न संशयः ॥५९॥

सनत्कुमार उवाचः—

इत्याकर्ण्य वचस्तस्य त्रिपुराधीशितुस्तदा ।
दूरीकृत्य मुखाद्वस्त्रमुवाच ऋषिसत्तमः ॥६०॥
दीक्षां गृहीष्व दैत्येन्द्र सर्वधर्मोत्तमोत्तमाम् ।
येन दीक्षाविधानेन प्राप्स्यासि त्वं कृतार्थताम् ॥६१॥

सनत्कुमार उवाचः—

इत्युक्त्वा स तु मायावी दैत्यराजाय सत्वरम् ।
ददौ दीक्षां स्वधर्मोक्तां तस्मै विधिविधानतः ॥६२॥
दैत्यराजे दीक्षिते च तस्मिन् स सहजे मुने ! ।
सर्वे च दीक्षिता जातास्तत्र त्रिपुरवासिनः ॥६३॥

मुनेः शिष्यैः प्रशिष्यैश्च व्याप्तमासीद्द्रुतं तदा ।
महामायाविनस्तत्तु त्रिपुरं सकलं मुने ! ॥६४॥
[अ० ४]

व्यास उवाचः—
दैत्यराजे दीक्षिते च मायिना तेन मोहिते ।
किमुवा च तदा मायी किं चकार स दैत्यपः ॥१॥

सनत्कुमार उवाचः—
दीक्षां दत्त्वा यतिस्तस्मा अरिहन्नारदादिभिः ।
शिष्यैः सेवितपादाब्जो दैत्यराजानमब्रवीत् ॥२॥

अरिहन्नुवाचः—
शृणु दैत्यपते वाक्यं मम सद्ज्ञानगर्भितम् ।
वेदान्तसारसर्वस्वं रहस्यं परमोत्तमम् ॥३॥
अनादिसिद्धसंसारः कर्तृकर्मविवर्जितः ।
स्वयं प्रादुर्भवत्येव स्वयमेव विलीयते ॥४॥
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यावद्देहनिबन्धनम् ।
आत्मैवैकेश्वरस्तत्र न द्वितीयस्तदीशिता ॥५॥
यद्ब्रह्मविष्णुरुद्राख्या स्तदाख्या देहिनामिमाः ।
आख्या यथाऽस्मदादीनामरिहन्नादिरुच्यते ॥६॥
देहो यथाऽस्मदादीनां स्वकालेन विलीयते ।

ब्रह्मादिमशकान्तानां स्वकालाल्लीयते तथा ॥७॥
विचार्यमाणे देहेऽस्मिन्न किञ्चिदधिकंक्वचित्।
आहारो मैथुनं निद्रा भयं सर्वत्र यत्समम् ॥ ८ ॥
निराहारपरीमाणं प्राप्य सर्वो हि देहभृत्।
सदृशीमेव सन्तृप्तिं प्राप्नुयान्नाधिकेतराम् ॥ ९ ॥
यथा वितृषिता स्याम पीत्वा पेयं मुदावयम्।
तृषितास्तु तथान्येपि न विशेषोऽल्पकोधिकः॥१०॥
सन्तुनार्यःसहस्राणि रूपलावण्यभूमयः ।
परं निधुवने काले ह्येकैवेदोपभुज्यते ॥ ११ ॥
अश्वाः परःशताःसन्तु सन्त्वनेकेप्यनेकधा ।
अधिरोहे तथाप्येको नद्वितीयस्तथात्मनः ॥ १२ ॥
पर्यंकशायिनां स्वापे सुखं यदुपजायते ।
तदेव सौख्यं निद्राभि—भूतभूशायिनामपि ॥१३॥
यथैव मरणाद्भीति, रस्मदादिवपुष्मताम् ।
ब्रह्मादिकीटकान्तानां तथा मरणतो भयम्॥१४।
सर्वेतनुभृतास्तुल्या यदि बुद्ध्या विचार्यते ।
इदं निश्चित्य केनापि नोहिंस्यः कोपि कुत्रचित्॥१५॥
धर्मो जीवदयातुल्यो न क्वापि जगतीतले ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कार्या जीवदया नृभिः ॥१६॥

एकस्मिन् रक्षिते जीवे त्रैलोक्यं रक्षितं भवेत् ।
घातिते घातितं तद्वत्तस्मान्न्जेन्न घातयेत् ॥१७॥

अहिंसा परमो धर्मः पापमात्मप्रपीडनम् ।
अपराधीनता मुक्तिः स्वर्गोऽभिलाषिताशनम् ॥१८॥

पूर्वसूरिभिरित्युक्तं सत्प्रमाणतया ध्रुवम् ।
तस्मान्न हिंसा कर्तव्या नरैर्नरकभीरुभिः ॥१९॥

न हिंसा सदृशं पापं त्रैलोक्ये सचराचरे ।
हिंसको नरकं गच्छेत् स्वर्गं गच्छेदहिंसकः॥२०॥

सन्ति दानान्यनेकानि किं तैस्तुच्छफलप्रदैः ।
अभीतिसदृशं दानं परमेकमपीह न ॥ २१ ॥

इह चत्वारि दानानि प्रोक्तानि परमार्षिभिः।
विचार्य नाना शास्त्राणि शर्मणेऽत्र परत्र च ॥२२॥

भीतेभ्यश्चाभयं देयं, व्याधितेभ्यस्तथौषधम् ।
देया विद्यार्थिनां विद्या देयमन्नं क्षुधातुरे ॥२३॥

यानि यानीह दानानि बहुमुन्युदितानिच ।
जीवाभयप्रदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥२४॥

अचिन्त्य प्रभावं हि मणिमंत्रौषधं बलम् ।
तदभ्यस्यं प्रयत्नेन नामार्थोपार्जनाय वै ॥२५॥
अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै ।
परितःपरिपूज्यानि किमन्यैरिह पूजितैः ॥ २६ ॥
पञ्चकर्मेन्द्रियग्रामः पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि च ।
मनो बुद्धिरिह प्रोक्तं द्वादशायतनं शुभम् ॥२७॥
इहैव स्वर्गनरकं प्राणिनां नान्यतः क्वचित् ।
सुखं स्वर्गःसमाख्यातो दुःखं नरकमेवहि ॥२८॥
सुखेषु भुज्यमानेषु यत्स्याद्देहविसर्जनम् ।
अयमेव परोमोक्षो विज्ञेयस्तत्वचिन्तकै ॥ २९ ॥
वासनासहिते क्लेशसमुच्छेदे सति ध्रुवम् ।
अज्ञानेपरमो मोक्षो विज्ञेयस्तत्वचिन्तकैः ॥३०॥
प्रामाणिकी श्रुतिरियं प्रोच्यते वेदवादिभिः ।
न हिंस्यात्सर्वभूतानि नान्याहिंसाप्रवर्तिका ॥३१॥
अग्निष्टोमीयमिति या आभिका साऽसताभिह ।
न सा प्रमाणं ज्ञातॄणां पश्वालम्भनकारिका ॥३२॥
वृक्षांश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
दग्ध्वा वह्नौ तिलाज्यादि चिरं स्वर्गोऽभिलष्यते ॥३३॥

इत्येवं स्वमतं प्रोच्य यतिस्त्रिपुरनायकम् ।
श्रावयित्वाऽखिलान् पौरानुवाच पुनरादरात् ॥३४॥
दृष्टार्थप्रत्ययकरान् देहसौख्यैकसाधकान् ।
बौद्धागमविनिर्दिष्टान् धर्मान् वेदपरांस्ततः ॥३५॥
आनन्दं ब्रह्मणोरूपं श्रुत्यैवं यन्निगद्यते ।
तत्तथैवेह मन्तव्यं मिथ्या नानात्वकल्पना ॥३६॥
यावत्स्वस्थमिदंवर्ष्म यावन्नेन्द्रियविक्लवः ।
यावज्जरा च दूरेऽस्ति तावत्सौख्यं प्रसाधयेत् ॥३७॥
अस्वास्थ्येन्द्रिय वैकल्ये वार्धिक्येतु कुतः सुखम् ।
शरीरमपि दातव्यमर्थिभ्योऽतः सुखेप्सुभिः ॥३८॥
याचमानमनोवृत्तिप्रीणने यस्य नोजनिः ।
तेनभूर्भारवत्येषा समुद्रागद्रुमैर्नहि ॥३९॥
सत्वरं गत्वरो देहः संचयाः सपारित्ययाः ।
इति विज्ञाय विज्ञाता देहसौख्यं प्रसाधयेत् ॥४०॥
श्ववायसकृमीणांच प्रातर्भोज्यमिदं वपुः ।
भस्मान्तं तच्छरीरं च वेदे सत्यंप्रपठ्यते ॥४१॥
सुधाजातिविकल्पोयं लोकेषु परिकल्प्यते ।
मानुष्ये सातिसामान्ये कोऽधमःकोऽथचोत्तमः॥४२॥

सनत्कुमार उवाच—

इत्थमाभाष्य दैत्येशं पौरांश्च स यतिर्मुने ।
सशिष्यो वेदधर्मांश्च नाशयामास चादरात् ॥४६॥
स्त्रीधर्मं खंडयामास पातिव्रत्यपरं महत् ।
जितेन्द्रियत्वं सर्वेषां पुरुषाणां तथैव सः ॥५०॥
देवधर्मान् विशेषेण श्राद्धधर्मांस्तथैव च ।
मखधर्मान् व्रतादींश्च तीर्थश्राद्धं विशेषतः ॥५१॥
शिवपूजां विशेषेण लिंगाराधनपूर्विकाम् ।
विष्णुसूर्यगणेशादिपूजनं विधिपूर्वकम् ॥५२॥
स्नानदानादिकं सर्वं पर्वकालं विशेषतः ।
खंडयामास स यतिर्मायी मायाविनांवरः ॥५३॥
विंवहूक्तेन विप्रेन्द्र त्रिपुरे तेन मायिना ।
वेदधर्मांश्च ये केचित्ते सर्वे दूरतःकृताः ॥५४॥

[रुद्र सं० २ युद्ध खं० ५ अध्या० ४–५]

वंगाली आवृत्ति 'शिव पुराण' वंगवासी इलेक्ट्रो मशीन प्रेस मुद्रित ज्ञान सं० अ० २१–२२ पृ० ८० ।

भावार्थ—सनत्कुमार कहने लगे कि हे ऋपि! तव महा तेजस्वी विष्णु ने उन दैत्यों के धर्म में विघ्न डालने के लिये अपनी माया से शिर से मुंडित, मलीन वस्त्र पहने हुए, काष्ठ के पात्र और पुंजिका रजोहरण हाथ में रखते हुए, पदपद पर उसे चलायमान करते हुए

हाथ में एक वस्त्र लेकर उससे मुख को ढांके हुए और "धर्मलाभ" ऐसे कहते हुए एक पुरुष को उत्पन्न किया ॥ ३ ॥ वह मुनि विष्णु जी को प्रणाम कर उनके आगे स्थित हुआ, कहने लगा ॥ ४ ॥ हे अरियों के नाश करने वाले अच्युत ! आप मुझे आज्ञा दें, मैं क्या करूं ? हे देव ! मेरे क्या क्या नाम होंगे ? और मेरा स्थान भी आप कहिये ॥ ५ ॥ विष्णु भगवान् उसके इस सुन्दर वचन को सुनकर प्रसन्न मन से इस तरह बोले ॥ ६ ॥ मैंने तुमको जिस लिये निर्माण किया है सो तुम सुनो, हे महाप्राज्ञ तुम मेरे अङ्ग से उत्पन्न होने के कारण निस्सन्देह तुम मेरे ही रूप हो ॥७॥ मेरे अङ्ग से उत्पन्न होने के कारण तुम मेरा कार्य करने के योग्य हो, तुम मेरे हो इसलिये सदा पूज्य होगे, इसमें सन्देह नहीं ॥८॥ तुम्हारा मुख्य नाम अरिहन् होगा तथा और भी सुन्दर नाम होंगे, पीछे से तुम्हारे स्थान को भी कहूंगा, प्रथम तुम प्रस्तुत कार्य को सुनो ॥९॥ हे मायावी ! तुम सोलह हजार श्लोकों में एक मायामय शास्त्र की की रचना करो जो कि श्रुति स्मृति से विरुद्ध और वर्णाश्रम की मर्यादा से रहित हो ॥१०॥ वह शास्त्र अपभ्रंश भाषा में हो और उसमें कर्मवाद का उल्लेख हो, ऐसे शास्त्र को तुम प्रयत्न से रचो, आगे उसका विस्तार होगा ॥११॥ मैं उसके निर्माण की तुमको सामर्थ्य देता हूँ तथा अनेक प्रकार की माया भी तुम्हारे आधीन होगी ॥१२॥ इस प्रकार हरि परमात्मा के इन वचनों को सुन कर प्रणाम पूर्वक वह मायावी जनार्दन से कहने लगा ॥१३॥ हे देव ! जो कुछ मुझे करना हो, उसे शीघ्र कहिये, आपकी आज्ञा से सब कार्य शीघ्र सिद्ध होगा ॥१४॥ सनत्कुमारजी बोले कि—यह सुन भगवान ने उसको

मायामय शास्त्र पढ़ाया, स्वर्ग नरक यहीं हैं अन्यत्र उनकी सत्ता नहीं ॥१५॥ फिर विष्णु ने शिवजी के चरण कमल का स्मरण करके कहा कि इस त्रिपुर में निवास करने वाले सभी दैत्य जनों को तुम अपनी माया से मोहित करदो ॥१६॥ तुम उनको दीक्षा देकर यत्न सहित यह शास्त्र पढ़ाओ, हे महामते ! मेरी आज्ञा से तुमको इसमें कुछ दोष नहीं लगेगा ॥१७॥ इसमें सन्देह नहीं कि उनमें श्रौत और स्मार्त धर्मो का प्रकाश हो रहा है, हे यतिराज ! तुम इस विद्या से उन सबको विच्छिन्न करदो ॥१८॥ हे मुण्डी ! तुम उन त्रिपुरवासियों के विनाशार्थ गमन करो, उनमें तमोगुणी धर्म का प्रकाश करके त्रिपुर का नाश कर डालो ॥१९॥ हे विभों ! फिर तुम यहां से मरुस्थल में जाकर कलियुग के आने तक स्वधर्म से निवास करना, और कलियुग के आजाने पर तुम अपने धर्म का प्रकाश करना, तथा शिष्य प्रशिष्यों द्वारा अपने धर्म का प्रचार करना ॥२१॥ मेरी आज्ञा से आपके धर्म का निश्चित ही विस्तार होगा, मेरी आज्ञा में तत्पर रहने से तुम को अवश्य ही सद्गति मिलेगी ॥२२॥ इस प्रकार देव देव महादेव की आज्ञा से हृदय में प्रेरित होकर हरि उसके प्रति यह आदेश देकर अन्तर्धान हो गये ॥२३॥ तब मुनि ने हरि की आज्ञा पालन करने के निमित्त अपने चार शिष्य बनाये और उनको यथायोग्य अपना मायामय शास्त्र पढ़ाया ॥२४॥ जैसे वह था वैसे ही उसके चारों शिष्य हुए, परमात्मा हरि को नमस्कार कर वहां स्थिति हुए ॥२५॥ हरि ने भी शिवजी की आज्ञा पालन करने के निमित्त उन चारों शिष्यों से बड़ी प्रसन्नता पूर्वक कहा॥२६॥

मेरी आज्ञा से जैसे तुम्हारे गुरु हैं वैसे ही तुम होगे और तुम धन्य हो निस्सन्देह तुम सद्गति को प्राप्त होगे ॥३०॥ बाद में वे चारों मुनि भी पाषण्ड धर्म में स्थित हुए, हाथ मे पात्र लिये और मुख पर वस्त्र धारण किये, मलिन वस्त्र पहने हुए स्वल्प बोलने वाले, "धर्मलाभ" ही परम तत्व है प्रसन्नता पूर्वक ऐसे कहते हुए तथा वस्त्र के टुकड़ों से बनी हुई मार्जनी (रजोहरण) को धारण करते हुए जीव हिंसा के भय से धीरे २ पांव रखकर चलने वाले, वे सब भगवान् को नमस्कार कर उनके आगे बैठ गये ॥३१॥ तब हरि ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें गुरुके सुपुर्द किया और प्रीति-पूर्वक उनके नाम को भी कहा ॥३२॥ जैसे तुम हो वैसे ही यह चारों भी मेरे हैं। तुम्हारा नाम आदि रूप है और पूज्य होने से तुम पूज्य भी कहलाओगे। तथा ऋषि, यति, कीर्य, उपाध्याय इत्यादि तुम्हारे प्रसिद्ध नाम होंगे॥३४॥ और मेरा शुभ नाम भी आपने ग्रहण करना, अरिहन् इस पाप नाशक नाम का सदा ध्यान करना चाहिये ॥३५॥ तुमको भी लोगों के सुखदायक कार्य को करना चाहिये, लोक के अनुसार कार्य करने में उत्तम गति की प्राप्ति होगी॥३६॥ सनत्कुमार बोले कि, तब वह मायी, शिष्यों के सहित बड़े प्रेम से भगवान को प्रणाम करके शीघ्र ही त्रिपुर को गया ॥३७॥ विष्णु की प्रेरणा से वह शीघ्र ही त्रिपुर में प्रवेश करके, मायावी होने के कारण उसने ऋषि रूप से अपनी माया फैलाई ॥३८॥ हे मुने! शिवजी के अर्चन के प्रभाव से सहसा त्रिपुर में वह माया न चल सकी, तब यति बहुत व्याकुल हुए ॥४०॥ तब उत्साह से रहित, चित्त में व्याकुलता और हृदय में दुःख होने से उसने विष्णु का स्मरण किया ॥४०॥ उसके स्मरण

करने से विष्णु ने शंकर का स्मरण किया और उनको मन से प्राप्त करके नारद को याद किया ॥४२॥ विष्णु के स्मरण मात्र से नारद जी वहां उपस्थित हुए और प्रणामपूर्वक हाथ जोड़ उनके सामने आ खड़े हुए ॥४३॥ विष्णु ने नारद जी से कहा कि लोकोपकार में निरत रहते हुए तुम सदा ही देव कार्य करते हो ॥४४॥ हे तात ! मैं तुमसे शिव जी की आज्ञा से कहता हूं, तुम शीघ्र ही त्रिपुर में जाओ, वहां एक ऋषि अपने शिष्यों सहित वहां के निवासियों को मोहित करने के लिये गये हैं ॥४५॥ सनत्कुमार जी बोले कि भगवान् के इन श्रेष्ठ वचनों को सुनकर मुनि-पुंगव नारद बड़ी शीघ्रता से वहां गये जहां कि वह मायावी ऋषि थे ॥४६॥ इस प्रकार मायाधीश भगवान् विष्णु की आज्ञा से उस पुर में प्रविष्ट होकर उस मायी से दीक्षित हुए ॥ ४७ ॥ इसके अनन्तर नारद जी ने, त्रिपुराधीश के समीप जाकर, क्षेम कुशल आदि पूछ कर (आगे लिखा) सब वृत्तान्त सुनाया ॥ ४८ ॥ नारदजी ने कहा कि—आपके नगर में धर्म परायण कोई एक यति आया है, वह सर्व विद्या सम्पन्न तथा वेद विद्या में निपुण है ॥४९॥ हमने बहुत से धर्म देखे परन्तु इसके समान कोई धर्म हमारी दृष्टि में नहीं आया। हमने इस सनातन धर्म को देख कर ही दीक्षा ग्रहण की है ॥५०॥ हे दैत्य सत्तम ! यदि आपकी इच्छा हो तो आप भी उस धर्म की दीक्षा ग्रहण कीजिये ? ॥५१॥ सनत्कुमार बोले कि—नारद जी के इन वचनों को सुन कर वह दैत्यपति बड़ा ही विस्मित हुआ और मोहित हो जाने से वहां गया ॥५२॥ जबकि नारद जी ने दीक्षा ली है तब हम भी वहा

जायंगे ऐसा विचार कर त्रिपुराधीश स्वयं ही वहां गया ॥५३॥ उन महात्मा को देख कर उनकी माया से मोहित होकर उनसे नमस्कार कर वह कहने लगा कि—हे निर्मालशय ऋषि ! मुझे आप दीक्षा दीजिये ? मैं आपका शिष्य हूँगा, यह बात निस्सन्देह सत्य है॥५४॥ दैत्यराज के इस वचन को सुन कर वे सनातन ऋषि बोले ॥५६॥ हे दैत्यराज ! तुम यदि मेरी आज्ञा को सर्वथा स्वीकार करोगे तो मैं दीक्षा दूंगा अन्यथा कोटि यत्न से भी नहीं ॥५७॥ यह सुन राजा तो मायामय हो गया, हाथ जोड़ कर शीघ्रता से उन यतिराज जी से बोला कि—हे भगवन् ! आप जो आज्ञा देंगे उसका मैं कभी उल्लंघन नहीं करूंगा, यह बात सर्वथा सत्य है ॥५८-५९॥ सनत्कुमार जी बोले कि—त्रिपुराधीश के इन वचनों को सुन कर, मुख से वस्त्र को दूर हटा कर वे ऋषि-श्रेष्ठ कहने लगे ॥६०॥ हे दैत्येन्द्र ! सब धर्मों मे उत्तम इन दीक्षा को आप ग्रहण कीजिये, इन दीक्षा विधान से तुम कृत्य कृत्य हो जाओगे ॥६१॥ सनत्कुमार जी बोले कि—इस प्रकार कहकर उस मायावी ने अपने धर्म के अनुसार विधिपूर्वक उस राजा को दीक्षा दी ॥६२॥ हे मुने ! अपने भाई के सहित दैत्यराज के दीक्षित हो जाने पर सभी त्रिपुर निवासी उन धर्म मे दीक्षित हो गये, और उस समय उस मायावी के शिष्यो प्रशिष्यों से वह सारा ही त्रिपुर भर गया ॥६३-६४॥

व्यास जी बोले कि—हे सनत्कुमार ! जिस समय दैत्यराज को दीक्षा देकर उस मायावी ने मोहित कर लिया तब उसने क्या कहा और दैत्य राज ने क्या किया ? ॥१॥ सनत्कुमार जी बोले कि हे ऋषे ! नारदादि शिष्यो से परिसेवित अरिहन मुनि उस दैत्यराज

का दीक्षा देकर बोले कि, हे दैत्यराज ! तुम हमारे ज्ञान सम्पन्न वचनों को सुनो, यह वेदान्त का सर्वस्व और परमोत्तम रहस्य है ॥२–३॥ यह संसार अनादि काल से चला आता है, कर्ता और कर्म से यह रहित है, यह आप ही प्रकट होकर आप ही लय हो जाता है ॥४॥ ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त यह जितना देह का बन्धन है इसमें एक आत्मा ही ईश्वर है दूसरा कोई नहीं ॥५॥ तथा जो ब्रह्मा विष्णु और रुद्र नाम है ये सब देह धारियों के नाम हैं जैसे कि हमारे नाम हैं आदितो अरिहन् है ॥६॥

जैसे हम सरीखों के देह समय आने पर विलीन हो जाते हैं, ऐसे ही ब्रह्मा से लेकर मशक पर्यन्त सभी के शरीर समय आने पर लय हो जाते हैं ॥७॥ यदि इस देह का विचार किया जाय तो कहीं पर भी कुछ अधिक नहीं है आहार निद्रा, भय और मैथुन ये सर्वत्र समान हैं ॥८॥ सब ही देहधारी निराहार के परिमाण को प्राप्त होकर समान ही तृप्ति को प्राप्त होते हैं, इस में कुछ न्यूनाधिक नहीं है ॥९॥ जैसे हम प्यासे होकर जल पीने से प्रसन्न होते हैं, वैसे ही दूसरे प्यासे भी होते हैं, इस में कुछ भी अन्तर नहीं ॥१०॥ रूप यौवन सम्पन्न चाहे सहस्रों स्त्रियें क्यों न हों परन्तु रति के समय में तो एक ही भोगी जाती है ॥११॥ घोड़े चाहे सैकड़ों असंख्य हों पर अधिरोहण में एक ही काम आता है ॥१२॥ पलंग पर सोने वालों को पलंग पर सोने से जो सुख मिलता है वही सुख पृथिवी पर सोने वालों को भी प्राप्त होता है ॥१३॥ जैसा हम प्राण-धारियों को मरण से भय है, ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त को भी वैसा ही मरण से भय है ॥१४॥ यदि बुद्धि से विचार किया जाय

तो सभी शरीर धारी समान हैं, ऐसा सोच कर कभी भी किसी को किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥१५॥ जीवों पर दया करने के समान पृथ्वी पर कोई धर्म नहीं है. इसलिये सर्व प्रयत्न से मनुष्य को जीवों पर दया करनी चाहिये ॥१६॥ एक जीव की रक्षा करने से मानो त्रिलोकी के जीवों की रक्षा होती है एवं एक के वध करने से त्रिलोकी के घात का दोष लगता है, अतः रक्षा करनी चाहिये मारे नहीं ॥१७॥ अहिंसा, परम धर्म है और आत्मा को पीड़ा देनी पाप है, पराधीन न होना मुक्ति और अभिलषित भोजन की प्राप्ति स्वर्ग है ॥१८॥ सत्प्रमाण से पुराने विद्वानों ने ऐसा कहा है, इसलिये नरक से डरने वालों को कभी हिंसा न करनी चाहिये ॥१९॥ चराचर संसार में हिंसा से बढ़कर पाप नहीं है, हिंसक मनुष्य नरक और अहिंसक स्वर्ग को जाता है ॥२०॥ दान तो बहुत है परन्तु उन तुच्छ फल देने वालों से क्या मतलब ! अभय दान के समान दूसरा दान कोई नहीं है ॥२१॥ ऋषियों ने अनेक शास्त्रों से विचार कर इस लोक परलोक में सुख देने वाले चार प्रकार के दान कहे हैं। (१) डरे हुए को अभयदान, (२) रोगी को औषधि, (३) विद्यार्थी को विद्या और (४) भूखे को अन्न दान ॥२२-२३॥ ऋषि मुनियों ने जो जो दान कहे हैं वे अभय दान की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं ॥२४॥ अचिन्त्य प्रभाव रखने वाले मणि मंत्र और औषधि का नाम और धन प्राप्ति के निमित्त प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करना चाहिये ॥२५॥ बहुत सा धन इकट्ठा करके उसके द्वारा द्वादशायतनों की पूजा करनी चाहिये. अन्य पूजन किसी

काम का नहीं ॥२६॥ पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि यही द्वादश आयतन स्थान हैं ॥२७॥ प्राणिमात्र के लिये स्वर्ग और नरक यही पर है और कहीं नहीं, सुख का ही नाम स्वर्ग और दुःख का नरक है ॥२८॥ सुख भोगते २ यदि देह छूट जाय तो इसी का नाम तत्वचिन्तकों ने परम मोक्ष कहा है ॥२९॥ जिस समय वासना सहित सब क्लेश नष्ट हो जांय, अज्ञान का नाश हो जाय, तत्व चिन्तकों ने इसी को मोक्ष माना है ॥३०॥ वेदवादी इस श्रुति को प्रमाण में देते हैं कि, किसी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिये, किसी की हिंसा में प्रवृत्ति न हो ॥३१॥ जो अग्निष्टोम में पशु का आलम्भन-वध है वह भ्रम की बात है। यह कथन असत्पुरुषों का है, ज्ञानी पुरुषों को पशु का वध स्वीकृत नहीं ॥३२॥ वृक्षों को छेदन कर, पशुओं को मार कर और रुधिर का कीचड़ कर तथा घी और तिलों को अग्नि में डाल कर स्वर्ग की इच्छा करना बड़ी ही विचित्र बात है ॥३४॥ इस प्रकार उस यतिराज ने उस असुर नायक तथा अन्य त्रिपुर निवासियों को अपना यह सिद्धान्त सुना कर फिर कहा कि प्रत्यक्ष अर्थ में ही विश्वास होना चाहिये, यही एक मात्र देह सुख के साधक हैं, यह धर्म वेद से परे और बौद्ध शास्त्रों में निर्दिष्ट हुए हैं ॥३५॥ आनन्द ही ब्रह्म का रूप है, ऐसा जो श्रुति में कहा गया है वह वैसा ही मानना चाहिये, नानात्व कल्पना व्यर्थ है ॥३६॥ जब तक यह शरीर स्वस्थ है, जब तक इन्द्रियें निर्बल नहीं हुई, जब तक वृद्धावस्था दूर है तब तक सुख के साधन को प्राप्त करना चाहिये ॥३७॥ जिस समय इन्द्रियां

अस्वस्थ हो गई और बुढ़ापा आ गया तो फिर सुख कहां, इसलियें सुख की इच्छा रखने वालों को तो अर्थी के निमित्त अपना शरीर भी दे देना चाहिए ॥३८॥ याचना करते हुए को देख कर जिसका मन उसकी पीड़ा से दुःखी नहीं होता उसी के बोझ से यह पृथ्वी दबती है। वृक्ष, पर्वत और समुद्रों का उसे बोझ नहीं है ॥३९॥ यह देह शीघ्र ही जाने वाला है, संचित किये हुए पदार्थ क्षय होने वाले हैं ऐसा समझ कर ज्ञानी पुरुष अपने शारीरिक सुख की साधना करे ॥४०॥ यह शरीर कुत्ते, कौवे और कीड़ों का प्रातः समय का भोजन होगा। वेद में ही पढ़ा जाता है कि, शरीर अन्त में भस्म होने वाला है ॥४१॥ लोगों में यह जाति कल्पना व्यर्थ है सामान्य रूप से सब मनुष्यों में कौन अधम और कौन उत्तम है ॥४२॥

सनत्कुमार जी बोले हे मुने! उस यति ने इस प्रकार राजा और त्रिपुर निवासियों को उपदेश दे कर वेद विहित धर्मों का नाश किया और पतिव्रत धर्म, पुरुषों का जितेन्द्रियत्व धर्म, तथा विशेष कर के देव-धर्म, श्राद्ध-धर्म, यज्ञ, तीर्थ और व्रत आदि का खंडन किया ॥५०—५१॥ शिव पूजन और विष्णु, सूर्य तथा गणेश आदि के पूजन, स्नान दान और पर्वकाल का भी उस मायावी ने खंडन किया ॥५३॥ हे विप्रेन्द्र! अधिक कहने से क्या त्रिपुर में उन यतिराज के कहने से वेद विहित समस्त धर्मों का परित्याग हो गया। इत्यादि आगे बहुत कुछ वर्णन है।

आलोचक——शिवपुराण के लेख को पाठकों ने पढ़ लिया इस लेखावलि में जिन बातों का उल्लेख किया गया है वे अन्य

पुराणों—पुराणस्थ लेखों—की अपेक्षा कुछ नई और विस्मय-जनक होने के साथ २ ऐतिहासिक दृष्टि से भी कुछ काम की हैं।

शिव पुराण के इस विस्तृत लेख का संक्षेप से सार अंश; इतना है कि दैत्यों से दुःखी हुए, देवता लोगों की प्रार्थना और शिवजी की प्रेरणा से विष्णु भगवान् ने मायास्वरूप एक पुरुष विशेष को उत्पन्न करके उसे त्रिपुर वासियों को वेद मार्ग से भ्रष्ट करने का आदेश दिया। विष्णु भगवान की इस आज्ञा को पाकर उस पुरुप ने अपने जैसे चार शिष्य और पैदा किये—बनाये। परन्तु शिवार्चन के प्रभाव से त्रिपुर में उस पुरुष को अपने कार्य में सफलता प्राप्त न हुई! तब विष्णु ने उसकी सहायता के लिये नारद को भेजा। नारद की सहायता से उसने फिर अपना कार्य शुरू किया और त्रिपुर नरेश तथा उसकी निखिल प्रजा को बहुत शीघ्र ही वैदिक धर्म से सर्वथा विमुख—विचलित कर दिया! बस इसके सिवाय अन्य जो कुछ लिखा है वह इसी का विस्तार मात्र है।

उक्त पुरुष के मत का विचार।

सब से पहले हमें इस बात का निर्णय करना बहुत जरूरी है कि विष्णु भगवान् ने जिस माया रूप पुरुष विशेप को उत्पन्न किया वह कौन था। इसके निर्णय करने के लिये शिव पुराण के उक्त लेख का मनन करना बहुत आवश्यक है। उसमें उक्त पुरुप के वेप और उपदेश, दोनों का ही उल्लेख किया गया है। परन्तु त्रिपुराधीश के समक्ष उस मुण्डी पुरुप के मुख से जो उपदेश दिखाया है उससे तो उसके किसी मत विशेष का पता नहीं चलता किन्तु उसके वेप का

जो नमूना दिया है उससे तो यही विदित है कि निस्संदेह वह श्वेताम्बर जैन मत का साधु होना चाहिये परन्तु उस मायामय के मत का कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता, तात्पर्य कि उसके वेष और उपदेश में बहुत अन्तर है। अब हम इसी बात की कुछ विस्तार से आलोचना करते हैं। शिव पुराण में उक्त मुनि के मुख से जनता के समक्ष जो उपदेश दिलाया गया है वह सर्वथा संदिग्ध है। इसलिये हमें इस बात के समझने में बड़ी दिक्कत पड़ती है कि उसने किस मत का उपदेश किया ? शिव पुराण के लेख से वह चार्वाक मत का प्रचारक भी सिद्ध होता है, कहीं कहीं पर उसने बौद्ध मत का भी उपदेश किया है और साथ २ वह जैन मत का उपदेशक भी साबित होता है।

उदाहरणार्थ——प्रथम श्लोक से लेकर पैंतीस श्लोक तक जो वर्णन है उसके देखने से तो मायामय के जैन होने में कुछ सन्देह नहीं क्योंकि उसमें उस पुरुष का जिस तरह का वेष बतलाया है वह प्रायः जैन ग्रन्थों से मिलता और वर्तमान समय के जैन साधुओं से कुछ मिलता जुलता भी है। एवं आगे पञ्चम अध्याय के २४ श्लोकों में अहिंसा धर्म का मर्म और महत्त्व तथा संसार का अनादित्व वर्णन करते हुए भी उसे जैन ही साबित किया है परन्तु इसके विरुद्ध —

इहैव स्वर्गनरकं प्राणिनां नान्यतः क्वचित् ।
सुखं स्वर्गः समाख्यातो दुःखं नरकमेवहि ॥२८॥

सुखेषु भुज्यमानेषु यत्स्याद्देहविसर्जनम् ।
अयमेव परोमोक्षो विज्ञयेस्तत्वचिन्तकैः ॥२६॥ *

इन दो श्लोकों से उसका चार्वाक—नास्तिक—होना सिद्ध होता है और जब हमः—

अर्थानुराज्यंबहुशो द्वादशा यतनानिवै ।
परितः परिपूज्यानि किमन्यैरिह पूजितैः ॥

....

वासनासहिते क्लेशसमुच्छेदेसति ुवम् ।
अज्ञानोपरमो मोक्षो विज्ञेय'तत्वच्चिन्तकैः ॥२८॥

....

बौद्धागमविनिर्दिष्टान् धर्मान् वेदपरांस्ततः ॥२४॥

इस प्रकार का उल्लेख देखते हैं तब हमे उसको बौद्ध धर्म का समझना पड़ता है। तात्पर्य कि शिव पुराण के इस लेख से यह निश्चित नहीं होता कि उस ऋषि ने किस मत का उपदेश किया। क्योंकि कहीं पर तो वह चार्वाक के मत का उपदेश देता है और कहीं बुद्ध के मत का तथा कहीं पर वह अहिंसा धर्म के उच्च सिद्धान्त का प्रतिपादन करता हुआ प्राणि-मात्र को उसके पालन करने का आदेश देता है जिससे कि वह जैन साबित होता है इस

* प्राणि मात्र के लिये स्वर्ग और नरक यहां पर हैं अन्यत्र नहीं। सुख का नाम स्वर्ग और दुःख का नाम नरक है। सुख भोगते हुए देह का छूट जाना ही मोक्ष है।

लिये उसके मत विशेष का निश्चय होना कठिन है। अतएव शिव पुराणके इस परस्पर विरोधी लेखकी समस्या लगानी भी मुश्किल है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते समय तो हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि शिव पुराणका यह लेख जिसने लिखा है उसको चार्वाक बौद्ध और जैन मत के पौर्वापर्य और परस्पर भेद की तमीज़ नहीं थी। अन्यथा वह इतनी भूल न करता! चार्वाक, जैन और बौद्ध को एक ही समझना निस्संदेह भूल है! हां वेद मत के साथ विरोध रखने से ही विचार माला में पिरो देना ग्रन्थकार को अभीष्ट हो तो हम विवश हैं।

शिव पुराण के सिवा अन्यान्य पुराणों की भी बहुधा यही दशा है। उनमें भी जैन और बौद्ध के परस्पर भेद की कुछ तमीज़ नहीं की गई। कहीं पर तो जैन और बौद्ध को भिन्न २ अवतार माना है कहीं पर जैन से बौद्ध और बौद्ध से जैनमत की उत्पत्ति का उल्लेख किया है। एवं किसी पुराण में तो जैन और बौद्ध का उत्पादक एक ही पुरुष को बतलाया गया है कहने की आवश्यकता नहीं कि इस दशा में हम किस परिणाम पर पहुंचते हैं।

[असभ्य आक्षेप]

शिव पुराण की इस लेख माला में उक्त मुनि—जिसे विष्णु भगवान् ने त्रिपुरासुर के विमोहनार्थ उत्पन्न किया—के उपदेश पर एक बड़ी ही विचित्र बात कही है। बात क्या है इस ब्याज से जैन और बौद्ध मत पर बड़ा ही असभ्य आक्षेप किया है। पाठकों को इस बात के बतलाने की अब तनिक भी आवश्यकता प्रतीत

नहीं होती कि मायामय नाम के ऋषि ने त्रिपुराधीश के समक्ष असुर सभा में जो उपदेश दिया है वह कितना सार युक्त और हृदय ग्राही है। उसमें प्राणि मात्र पर समान भाव रखने रूप अमूल्य उपदेश के सिवा "भीतेभ्यश्चभयं देयं, व्याधितेभ्यस्तथोषधं। देया विद्यार्थिनां विद्या, देयमन्नं क्षुधातुरे" इत्यादि कथन तो विशेष रूप से मनन और आचरण करने योग्य है। परन्तु शिवपुराण की इस लेख माला में उक्त उपदेश पर बड़ा ही अनुचित आक्षेप किया है। "स्त्रीधर्मं खंडयामास पातिव्रत्यपरं महत्, जितेन्द्रियत्वं सर्वेषां पुरुषाणां तथैव सः"। "अर्थात् उस मुनि ने अपने उपदेश से स्त्रियों के परमोत्तम पतिव्रता धर्म और मनुष्यों के जितेन्द्रियत्व का खंडन किया इत्यादि" मगर मायामय ने जो कुछ उपदेश दिया है उसमें कहीं पर भी ऐसा उल्लेख नहीं कि जिसमें कि स्त्री और पुरुषों को व्यभिचार में प्रवृत्त होने की आज्ञा हो। हमें जो कुछ भी इसे सम्बन्ध (मायामय की उत्पत्ति और उसका उपदेश आदि) में मालूम हुआ है वह सब शिव पुराण की इस लेख माला के ही बदौलत मालूम हुआ है। उक्त मुनि के उपदेश में हमें तो व्यभिचार प्रवृत्ति की गन्ध तक भी नहीं आती और नही अन्य कोई बुद्धिमान् इस बात को स्वीकार करने के लिये त्यार हो सकता है फिर उक्त ऋषि के उपदेश को पतिव्रता धर्म और ब्रह्मचर्य का विघातक किस प्रकार से बताया गया यह हमारी समझ में नहीं आता। हमारे ख्याल में तो यह बड़ा भारी असभ्य आक्षेप है जो कि एक प्रतिष्ठित समाज पर किसी व्याज से लगाया गया है और जो सर्वथा निर्मूल और निरर्थक है। हां यदि ऐसा ही करना अभीष्ट था तो उक्त मुनि

के मुख से प्रथम व्यभिचार प्रवृत्ति का उपदेश दिला देना था जिस मे कि उस पर—मुनि पर—लगाया गया व्यभिचार-प्रवर्तकता का लांछन सर्वथा निर्मूल साबित न होता।

इसके अतिरिक्त "हे मुने! तुम कलियुग के आने तक मारवाड़ में जाकर ठहरे रहना, और वहां में अपने धर्म का प्रचार करना" इस कथन पर बहुत कुछ विचार करने की आवश्यकता है परन्तु वह सब कुछ पाठकों पर ही छोड़ते हुए हम इतना ही कहते हैं कि—"तुरंगशृंगाण्युपपादयद्भ्यो नमःपरेभ्यो नवपंडितेभ्यः"

[मत्स्य पुराण]

जैन-धर्म विषयिक मत्स्य पुराण का लेख भी विलक्षण है। इसमें जैन धर्म की उत्पत्ति का कोई नया प्रकार नहीं बतलाया। किन्तु "रजि के पुत्रों द्वारा राज्य से च्युत हुए इन्द्र की अभ्यर्थना को सुन, देव गुरु बृहस्पति ने रजि पुत्रों को जिन-धर्म के उपदेश से मोहित कर जब सर्वोत्तम वेद मत को गिरा दिया तब इन्द्र ने उनको स्ववज्र से आहत कर अपना राज्य सिंहासन फिर से प्राप्त कर लिया" का अपूर्व वर्णन ही इसमें किया है! वह सम्पूर्ण कथा और उसका पाठ इस प्रकार है:—

लक्ष्मी स्वयंवरं नाम भरतेन प्रवर्तितम्।
मेनकामुर्वशीं रम्भां नृत्यतेति तदादिशत् ॥२८॥
ननर्त सलयं तत्र लक्ष्मी रूपेणचोर्वशी।
सा पुरूरवसं दृष्ट्वा नृत्यन्ती कामपीडिता ॥२९॥

विस्मृताभिनयं सर्वं यत्पुरा भरतोदितम् ।
शशाप भरतःक्रोधात् वियोगादस्य भूतले ॥३०॥
पञ्चपञ्चाशदब्दानि, लता सूक्ष्मा भविष्यसि ।
पुरूरवाः पिशाचत्वं तत्रैवानुभविष्यति ॥३१॥
ततस्तमुर्वशी गत्वा, भर्तारमकरोच्चिरम् ।
शापान्ते भरतस्याथ उर्वशीबुधसूनुतः ॥३२॥
अजीजनत्सुतानष्टौ नामतस्तान्निबोधत ।
आयुर्दृढायुरश्वायुर्धनायुर्धृतिमान् वसुः ॥३३॥
शुचिविद्यः शतायुश्च सर्वे दिव्यबलौजसः ।
आयुषो नहुषः पुत्रो वृद्धशर्मा तथैव च ॥३४॥
रजिर्दम्भो विपाप्माच वीराःपञ्च महारथाः ।
रजेः पुत्रशतं यज्ञे राजेयमिति विश्रुतम् ॥३५॥
रजिराराधयामास नारायणमकल्मषम् ।
तपसा तोषितो विष्णुर्वरान् प्रादान्महीपतेः ॥३६॥
देवासुरमनुष्याणामभूत्स विजयी तदा ।
अथ देवासुरं युद्धमभूद् वर्षशतत्रयम् ॥३७॥
प्रल्हादशक्रयोर्भीमं न कश्चिद्विजयी तयोः ।
ततो देवासुरैः पृष्टः प्राह देवश्चतुर्मुखः ॥३८॥

अनयोर्विजयी कः स्याद्राजिर्यत्रेति सोऽब्रवीत् ।
जयाय प्रार्थितो राजा सहायस्त्वं भवस्व नः ॥३९॥
दैत्यैः प्राह यदि स्वामी वोभवामि ततस्त्वलम् ।
नासुरैःप्रतिपन्नं तत् प्रतिपन्नं हि सुरैस्तथा ॥४०॥
स्वामी भवत्वमस्माकं संग्रामे नाशय द्विषः ।
ततो विनाशिताः सर्वे येऽवध्या वज्रपाणिना ॥४१॥
पुत्रत्वमगमत्तुष्टस्तस्येन्द्रः कर्मणा विभुः ।
दत्वेन्द्राय तदा राज्यं जगाम तपसे रजिः ॥४२॥
रजिपुत्रैस्तदाच्छिन्नबलादिन्द्रस्य वैभवम् ।
यज्ञभागं च राज्यं च तपोबलगुणान्वितैः ॥४३॥
राज्याद् भ्रष्टस्तदाशक्रो रजिपुत्रैर्निपीडितः ।
प्राह वाचस्पतिं दीनः पीडितोऽस्मि रजे सुतैः ॥४४॥
न यज्ञभागो राज्यं मे निर्जितं च बृहस्पते ।
राज्यलाभाय मे यत्नं विधत्स्व धिषणाधिप ॥४५॥
ततो बृहस्पतिः शक्रमकरोद्बलदर्पितम् ।
ग्रहशान्तिविधानेन पौष्टिकेन च कर्मणा ॥४६॥
गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पतिः ।
जिनधर्मं समास्थाय वेदबाह्यं सवेदवित् ॥४७॥

वेदत्रयीपरिभ्रष्टांश्चकार धिषणाधिपः ।
वेदवाह्यान् परिज्ञाय हेतुवादसमन्वितान् ॥४८॥
जघान शक्रो वज्रेण सर्वान् धर्मबहिस्कृतान् ।

[अध्याय २४]

इन श्लोकों का भावार्थ यह है कि—किसी समय भरत महाराज ने लक्ष्मी स्वयंवर रचा। उसने मेनका, उर्वशी और रम्भा को नृत्य करने के लिये आज्ञा दी। वहाँ लयपूर्वक नृत्य करती हुई उर्वशी पुरूरव को देखकर कामदेव के वशीभूत हो जाने से भरतोदित अभिनय [भरत के कहे हुए नृत्य प्रकार] को सर्वथा भूल, मनमाना कृत्य करने लगी। उसके इस कृत्य को देख भरत को बड़ा क्रोध चढ़ा। इसलिये उसने उर्वशी को शाप दिया कि, तू इससे (पुरूरव से) वियुक्त हुई मृत्यु लोक में साढ़े पांच सौ वर्ष तक लता बनी रहेगी, और यह—पुरूरव—भी वहीं पर पिशाच बन कर रहेगा। भरत का शाप पूरा होने के अनन्तर उर्वशी ने बुध पुत्र के नियोग से आयुः, दृढ़ायुः, अश्वायुः, धनायुः, धृतिमान, वसु, शुचिविद्य और शतायु ये आठ पुत्र उत्पन्न किये। उनमें से आयु के पांच पुत्र हुए जो कि बड़े शूरवीर थे। उनके क्रमशः नहुष, वृद्धशर्म्मा, रजि, दम्भ और विपाप्मा ये नाम हैं। इनमें से तीसरे रजि ने सौ पुत्र उत्पन्न किये। रजि ने विष्णु भगवान् का बहुत आराधन किया उसका तपश्चर्या से प्रसन्न होकर विष्णु भगवान् ने उसको ऐसा वर दिया जिसके प्रभाव से वह देव, असुर और मनुष्यों में सब को जीतने वाला हुआ। कुछ समय बाद देवों और दैत्यों का बड़ा भारा युद्ध हुआ।

यह युद्ध तीनसौ वर्ष तक होता रहा। इसमें देव और दैत्यों के नायक इन्द्र और प्रह्लाद का बड़ा भारी युद्ध हुआ। जब इन दोनों में से कोई हारा नहीं तब देव और दानवों ने ब्रह्माजी के पास जाकर पूछा कि इन दोनों में से किसकी विजय होगी। इसके उत्तर में ब्रह्माजी ने कहा कि जिस पक्ष की ओर "रजि" होगा उसकी जय होगी। यह सुन दोनों ही दल के लोग रजि के पास गये और अपनी २ सहायता के लिये प्रार्थना की। इसके उत्तर में "रजि" ने कहा कि मैं उस पक्ष की ओर हूँगा जो कि मुझे अपना नायक बनायेगा। इस बात पर असुर तो सहमत नहीं हुए परन्तु देवताओं ने इसको स्वीकार कर लिया। रजि के देव सेना के नायक होने के बाद फिर युद्ध शुरू हुआ। बस फिर क्या था रजि ने उन असुरों का भी विनाश कर दिया जिनका वध करने के लिये इन्द्र सर्वथा असमर्थ था। रजि के इस कर्म से प्रसन्न होकर इन्द्र उसका कृत्रिम पुत्र बन गया। रजि ने भी इन्द्र को राज्य देकर स्वयं जंगल का रास्ता लिया। इधर रजि के पुत्रों को यह बात पसन्द न हुई। उन्होंने जबरदस्ती इन्द्र से उसका राज्यपाट छीन लिया। राज्यपद से भ्रष्ट हुआ इन्द्र देवगुरु बृहस्पति के पास आकर गिड़गिड़ाया और कहने लगा कि मुझे रजि के पुत्रों ने बहुत दुःखी किया है मेरा सम्पूर्ण राज्य ले लिया और अब यज्ञ का भाग भी मुझे नहीं मिलता। इसलिये मुझे राज्य मिले इसके वास्ते आप कोई यत्न करें।" यह सुन बृहस्पति ने ग्रह शान्ति और पुष्टि कर्म के विधान द्वारा इन्द्र को फिर से बलवान और साहसी बनाया तथा स्वयं रजि पुत्रों के पास जा उनको वेद बाह्य जिन धर्म का उपदेश कर वेदोक्त

मार्ग से भ्रष्ट कर दिया। इन्द्र ने भी उनको वेद विहित मार्ग से भ्रष्ट और श्रद्धा से रहित समझ कर उन सब का विनाश करके स्वाधिकार प्राप्त कर लिया।

[आनन्दाश्रम सिरिझ मत्स्य पु० अ० २४ श्लोक २८-४९]

आलोचक——इस सारी कथा में जैन धर्म से सम्बन्ध रखने वाला "जिन धर्म समास्थाय वेदबाह्यं स धर्मवित्" बस यह आधा श्लोक है। अगर "जिन" के स्थान में कोई अन्य शब्द रख दिया जाय तो इतना भी नहीं! एवं कृत्रिम जैन बन कर बृहस्पति ने रजि के पुत्रों को क्या उपदेश दिया, और उसकी जैन धर्म विषयिक किन बातों का उनके हृदय पर प्रभाव पड़ा, जिनके कारण वे वैदिक धर्म से विमुख होकर इन्द्र के वज्र से आहत हुए। इस बात का उक्त कथा में कुछ भी जिकर नहीं यह बड़ा आश्चर्य है। फिर यह भी समझ में नहीं आता कि बृहस्पति के इस माया जाल रूप अमोघास्त्र का लक्ष जैन धर्म ही क्यो बनाया गया। सच पूछिये तो हमें तो यह सब द्वेष और दुराग्रह की ही लीला प्रतीत होती है।

अस्तु यदि ऊपर दी गई कथा सत्य है [वस्तुतः होनी ही चाहिये] तो इससे जैन धर्म की प्राचीनता पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। मत्स्य पुराण के "जिनधर्म 'समास्थाय वेदबाह्यं स धर्मवित्" इस आधे श्लोक से ज्ञात होता है कि उस समय [मत्स्यपुराण के निर्माणकाल में] जैन धर्म बहुत कुछ प्रचार में आ चुका था। अतः मत्स्य पुराण के रचना काल से जैन धर्म की उत्पत्ति का समय अधिक प्राचीन है, यह बात उक्त कथा से स्पष्ट प्रतीत होती है यद्यपि

मत्स्यपुराण कब बना, इसका निर्णय अभी तक नहीं हुआ [और न होना ही सम्भव है]—तथापि अन्यपुराणों की अपेक्षा वह कुछ अधिक प्राचीन है ऐसा कई एक विद्वान मानते हैं ।*

[परस्पर विरोध के परिहार का सुगम उपाय]

हमारे पाठकों में से बहुत से सज्जनों को मत्स्यपुराण की इन आख्यायिका का भागवतादि पुराण ग्रन्थों के लेखों के साथ कुछ विरोध भी प्रतीत होगा। परन्तु इससे वे घबड़ायें नहीं। विरोध परिहारार्थ हम उनको एक बड़ा ही सुगम उपाय बतलाते हैं।

---

*—पुराणों की प्राचीनता। इस देश में ताम्र-पत्रों पर उत्कीर्ण हुए जो दान-पत्र मिलते हैं उनमें भूमि-दान आदि से सम्बन्ध रखने वाले कितने ही श्लोक प्रायः एक ही से उत्कीर्ण रहते हैं। यथा—

(१) बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिः सगरादिभिः।
(२) षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः।
(३) स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्।
(४) अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णम्।

ये श्लोक पद्म, भविष्य और ब्रह्मपुराण के हैं। जिन दान-पत्रों पर ये लिखे हुए हैं उनमें से कई एक ४७५ सन् ईसवी के उत्कीर्ण हुए हैं। इस से यह सिद्धान्त निकलता है कि ईसा की पांचवीं सदी के सैकड़ों वर्ष पहले से इन पुराणों का प्रचार भारत में था। जिन पुराणों के ये श्लोक हैं उन्हें पुरातत्त्वज्ञ पण्डित बहुत पीछे के पुराण समझते हैं। इस दशा में जिन मत्स्य पुराणादि को ये लोग सब से पुराना समझते हैं वे न मालूम और कितने पुराने होंगे।

[सरस्वती मई सन् १९१३, पृष्ठ २०८ विविध विषय]

इन—पुराण—ग्रन्थो में वर्णन की गई जैन सम्बन्धि कथाओं के परस्पर विरोध में यदि उन्हें किसी प्रकार की आपत्ति की सम्भावना हो तो उनको मुनासिब है कि वे झट से "कल्पभेदेन भेदः" वाली व्यवस्था देवी का स्मरण करलें ? बस फिर क्या, स्मरण करते ही विरोध का भूत भाग निकलेगा !

[स्कन्द पुराण]

स्कन्द पुराण में भी जैन धर्म के विषय का कुछ उल्लेख है। परन्तु वह अन्य सब पुराणो की अपेक्षा सर्वथा नवीन और अपने ढङ्ग का एक है। पाठक उसे भी देखे। स्कन्द पुराण—तृतीय ब्रह्मखण्ड—धर्मारण्य माहात्म्य के ३६—३७—३८ अध्याय में वाद विवाद रूप से एक बड़ी विस्तृत कथा लिखी है, उसका संक्षेप से भावार्थ मात्र हम पाठको की सेवा में निवेदन करते हैं। तथाहि—

[बंगला आवृत्ति तृ० ब्र० खं० धर्माशय अ० ३६—३७—३८ पृ० १८८५]

"'कलियुग' के आदि में कान्यकुब्ज देश का अधिपति आम नाम का एक राजा हुआ, वह प्रजा पालन में तत्पर नीतिमान् और बड़ा धर्मात्मा था। परन्तु कलियुग के प्रभाव से उसकी प्रजा की बुद्धि पाप में लग गई अतः बौद्ध धर्मानुयायी सन्यासियों के उपदेश में उसने—प्रजा ने—निजी वैष्णव धर्म को त्याग कर बौद्ध धर्म को स्वीकार लिया।

---

(१) इदानी च कलौ प्राप्ते आमोनाम्ना बभूवह ।
कान्यकुब्जाधिपः श्रीमान् धर्मज्ञो नीतित्परः ॥१२॥
प्रजानां कलिना तत्र पापे बुद्धिरजायता ॥३५॥
वैष्णवं धर्ममुत्सृज्य बौद्धधर्मं मुपागताः ।

आम[१] राजा की "मामादेवी" नाम की एक पटरानी थी. उसके गर्भ से "रत्नगङ्गा" नाम की बड़ी सुन्दर एक कन्या उत्पन्न हुई।

किसी समय दैवयोग से इन्द्रसूरि नाम के—जैनसाधु—वहाँ आ गये। उन्होंने देखा कि राजकुमारी सोलह वर्ष की हो चुकी है और

---

(१) प्रजास्तत्तुवर्तिन्य , सर्वाः प्रतिबोधिता. ॥३६॥
तस्य राज्ञो महादेवी मामा नाम्न्येतिविश्रुता ।
गर्भं दधार सा राज्ञी सर्वलक्षणसंयुता ॥३७॥
सम्पूर्णे दशमे मासि जाता कन्या सुन्दरी ।
दुहिता सर्वसौभाग्या पूर्णचन्द्रनिभानना ॥ ३८ ॥
रत्नगंगेति नाम्ना सा मणिमाणिक्यभूषिता ।
एकदा दैवयोगेन देशान्तरादुपागतः ॥ ३९ ॥
नानादेशेषु भ्रमितो सोऽस्मिन् कान्यकुब्जके ।
षोडशाब्दान्तु सा कन्या सोत्तमा रूपसम्पदा ॥ ४० ॥
दृष्ट्वान्तरेण मिलित इन्द्रसूरिः शौविक ।
शास्त्रीयं विद्यां च कथयामास भारत ॥ ४१ ॥
ततश्चिन्ताऽकरम्या तु मुनिधर्मविमोहिता ।
तदा सा मोहनात्तत्त्वाकरणधारणा ॥ ४२ ॥
सपर्शजोशिलाकृत जैनधर्मपरायणा ।
मलायताशिवनये पूर्णीशाताय धीमते ॥ ४३ ॥
रत्नगंगा महादेवीं ददौ मामिनि निर्मली ।
मोढेरकं ददौ तस्मै विवाहे देवतोषिते ॥ ४४ ॥
धर्मारण्यं समागत्य राजधानी कृता तदा ।
देवाश्च स्थापयामास जैनधर्मप्रवर्तकान् ॥ ४५ ॥
सर्ववर्णास्तथा भूता जैनधर्मसमाश्रिताः ।
ब्राह्मणा नैव पूज्यन्ते न च शान्तिकपौष्टिकम् ॥ ४६ ॥

अभी तक वह अविवाहिता है। किसी दासी के द्वारा इन्द्रसूरि राजकुमारी से मिले और शावरी मंत्र के प्रभाव से उन्होंने राजकुमारी को अपने वश में करके उसे जैन धर्म में अनुरक्त कर दिया। पश्चात् आम राजा ने उसे ब्रह्मावर्त के अधिपति कुम्भीपाल राजा के साथ उसका विवाह कर दिया और मोहेरक नाम का स्थान उसके दहेज में दे दिया। कुम्भीपाल ने अपनी राजधानी मोहेरक में बनाई और वहां पर ही जैन धर्म के पूज्य देवों की स्थापना की। अन्य सब लोग भी जैन धर्म के अनुयायी होने लग गये। अब न तो कोई ब्राह्मणों का ही सत्कार करता है और न शान्त्यादि कर्मों का ही अनुष्ठान होता है तथा न कोई दान ही देता है।

न ददाति कदा दानमेवं कालः प्रवर्तते ।
लब्धशासनका विप्रा लुनस्त्राग्या अहर्निशम् ॥ ४७ ॥
समाकुलितचित्तास्ते नृपमार्गं समाययुः ।
कान्यकुब्जस्थितंशूरं पाखण्डैः परिवेष्टितम् ॥ ४८ ॥
चारैश्च कथितास्ते च नृपस्याग्रे समागताः ।
प्रातराकारिता विप्रा आगता नृपसंसदि ॥ ५० ॥
प्रत्युत्थानाभिवादादीन् न चक्रे सादरं नृपः ।
तिष्ठतो ब्राह्मणान् सर्वान् पर्यपृच्छदसौ ततः ॥ ५१ ॥
किमर्थमागता विप्रा किंचित् कार्यं ब्रुवन्तु तत् ॥ ५२ ॥
विप्रा ऊचुः—धर्मारण्यादिहायाता स्त्वत्समीपं नराधिप ।
राजन् तत्र सुतायास्तु भर्ता कुमारपालकः ॥ ५३ ॥
तेन प्रलुप्तं विप्राणां शासनमहदद्भुतम् ।
वर्तन्ता जैनधर्मेण प्रेरितेनेन्द्रसूरिणा ॥ ५४ ॥
राजोवाच:—केन वै स्थापिताः यूयंमा स्मिन्मोहेरके पुरे ।
एतद्धि वाडवाः सर्वं बूते वृत्तं यथातथम् ॥ ५५ ॥

परन्तु इस कार्य से ब्राह्मणों को बहुत कष्ट हुआ । खिन्न चित्त हो वे सब मिल कर आम राजा के पास गये । मगर राजा ने अभ्युत्थानादि से उनका उचित सत्कार नहीं किया । राजा के पूछने पर ब्राह्मणों ने कहा कि हम धर्मारण्य से चलकर यहां आये हैं । आपके जामाता कुमारपाल ने ब्राह्मणों का शासन लुप्त कर दिया । वह इन्द्रसूरि की प्रेरणा से अब जैन धर्म का पालन करने लग गया है । यह सुन राजा ने कहा कि आपको मोहेरक में प्रथम किसने स्थान दिया ? इस पर ब्राह्मणों ने कहा कि—हमको यहां काजेशों और धर्मराज ने प्रथम स्थान दिया । अनन्तर राम ने यहां पुरी की रचना की । राम के शासन को अन्यान्य राजाओं ने भी

ब्राह्मणा ऊचुः—काजेशै स्थापिता: पूर्व धर्मराजेन धीमता ।

तथा चास्मिन्शुभस्थाने रामेण च ततः पुरी ॥ ५६ ॥

शासनं रामचन्द्रस्य ह्यन्यैरन्यैश्च राजभिः ।

पालितं धर्मतोऽत्र शासनं नृपसत्तम ! ॥ ५७ ॥

इदानीं तव जामाता शासनं पालयते नहि ।

तच्छ्रुत्वा विप्रवाक्यं तु राजा विस्मयमाप्तवान् ॥ ५८ ॥

यत्नं कृतं हि भो विप्रा ! कथयन्तु ममाग्रतः ।

गत्वा कुमारपालाय देहि त्वं शासनं स्वयम् ॥ ५९ ॥

श्रुत्वा वाक्यं ततो विप्रा परां मुदमवाप्तुवन् ।

सर्वे ते मुदिता वाक्यं तस्य निवेदितं ॥ ६० ॥

तत्रस्थ तस्य श्रुत्वा राजा वचनमब्रवीत् ।

रामस्य शासनं विप्रा ! पालयिष्यामि नहि ॥ ६१ ॥

स्वयमपि गत्वा ततो यत् लिखितं तद्वदाम्यहम् ।

तस्मादिन्द्रिरारामा मु नमः मतिमेव त्वहिता ॥ ६२ ॥

धर्म पूर्वक पालन किया। परन्तु तुम्हारा जामाता—कुमारपाल—अब ब्राह्मणों का पालन नहीं करता? यह सुन आम ने ब्राह्मणों से कहा कि आप जाकर मेरी तर्फ से महाराजा कुमारपाल को कहिये कि ब्राह्मणों को उनका पूर्व अधिकार दे दो। ब्राह्मणों ने आकर महाराजा आम की आज्ञा को कुमारपाल से निवेदन किया। उन ब्राह्मणों के द्वारा अपने श्वसुर के वचन को सुनकर राजा कुमारपाल बोले कि मैं राम के शासन का पालन नहीं करूंगा, यज्ञादि में हिंसा करने वाले ब्राह्मणों का त्याग करना ही उचित है, इसलिये हिंसकों में मेरी श्रद्धा नहीं? यह सुन ब्राह्मण समुदाय ने कहा कि राजन्! पाखंड धर्म में प्रवृत्त होकर ब्राह्मणों के शासन का क्यों लोप कर रहे हो? आप अपनी बुद्धि को पापमें मत लगाइये? ब्राह्मण समुदायका यह कथन सुन कुमारपाल ने कहा कि, अहिंसा ही परम धर्म है, अहिंसा ही परम मत है तथा अहिंसा ही परम ज्ञान और उत्तम

ब्राह्मणा ऊचुः—कथं पाखंडधर्मेण लुप्तशासनको भवान्।
पाल्यस्व नृपश्रेष्ठ मास्म पापे मनः कृथाः ॥ ६३ ॥

राजोवाच—अहिंसा परमोधर्मः अहिंसा च परं तपः।
अहिंसा परमं ज्ञानमहिंसा परमं फलम् ॥ ६४ ॥
तृणेषु चैव वृक्षेषु पतंगेषु नरेषु च।
कीटेषु मत्कुणाद्येषु अजाश्वेषु गजेषु च ॥ ६५ ॥
लूतासु चैव सर्पेषु महिष्यादिषु वै तथा।
जंतवः सदृशा विप्राः सूक्ष्मेषु महत्सु च ॥ ६६ ॥
कथं यूयं प्रवर्तध्वे विप्रा हिंसा परायणाः।
तच्छ्रुत्वा वज्रतुल्यं हि वचनं च द्विजोत्तमाः ॥ ६७ ॥
प्रत्यूचुर्वाडवाः सर्वे क्रोधरक्तेक्षणा दृशा ॥ ६८ ॥

फल है। तृण, वृक्ष, कीट, पतंग, पशु, पक्षी, और मनुष्यादि सब प्रकार के छोटे बड़े प्राणियों में एक जैसा ही जीवात्मा विराजमान है। तिस पर भी न जाने आप लोग क्यों हिंसा में प्रवृत्त हो रहे हैं। कुमार-पाल के इस वज्र तुल्य कथन को सुनकर लाल नेत्र किये हुए ब्राह्मण वर्ग बोला कि—राजन् आपने अहिंसा को जो परम-धर्म बतलाया है सो यद्यपि ठीक है तथापि आप धर्म के मर्म को एकाग्र चित्त होकर सुनो ? वेद में जिसका विधान किया गया है वह हिंसा नहीं प्रत्युत अहिंसा ही है शस्त्र से वध करने पर जीव को दुःख होता है, बस यही (शस्त्र वध करना) अधर्म है मगर शस्त्र के बिना वेद मंत्रों के द्वारा जो पशु वध किया जाता है वह दुःख-प्रद नहीं बल्कि वध्य जीव का सुख के देने वाला होता है। पर उप-कार पुण्य और पर-पीड़न पाप के लिये है। अतः वेद विहित हिंसा का आचरण करता हुआ मनुष्य पापों से लिप्त नहीं होता! इत्यादि बहुत कुछ वाद विवाद होने के अनन्तर निराश होकर बहुत से ब्राह्मणों ने अपने कार्य की सिद्धि के लिये रामेश्वर को प्रस्थान किया। वहां उनको ब्राह्मण रूप में हनुमान जी के दर्शन हुए। ब्राह्मण वर्ग की सतत प्रार्थना से प्रसन्न होकर हनुमान जी ने उन को अपने असली रूप में दर्शन दिया और अपना बाईं तथा दाईं कक्षा (कच्छ) के बालों (रोम) की दो पुड़िये देकर कहा कि जो यदि वह राजा आप की आज्ञानुसार काम न करे तो इस बाईं पुड़िया को उसके द्वार पर फैंक देना इसके फैंकते ही उसका सभी कुछ अग्नि सात्–जलकर भस्म–होने लगेगा। और यदि उसके शान्त तथा पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता पड़े तो इस दूसरी पुड़िया

को वहां भाड़ देना यह कह कर हनुमान जी ने उनको वहां तीन दिन रखकर अपने स्थान पर पहुंचा दिया इस समय ब्राह्मणों की प्रसन्नता का कुछ वर्णन नहीं किया जाता ! वे प्रातःकाल सुसज्जित होकर राजा के पास पहुंचे और कहने लगे कि आपको राम और हनुमान ने ब्राह्मणो के पूर्वाधिकार को दे देने के लिये कहा है इस लिये आप हमें हमारा अधिकार दीजिये। इस पर राजा ने कहा मैं तो तुच्छ मात्र भी नहीं दूंगा आप राम और हनुमान के पास ही जाइये ? यह सुन ब्राह्मणों ने हनुमान जी के कथनानुसार उनकी ही पुड़िया उसके द्वार पर फैंक दी और स्वयं अपने २ घर को चले गये. बस फिर क्या था चारों[१] तर्फ अग्नि की ज्वालायें ही नजर

(१) अग्निज्वालाकुलं सर्व संजातं चैव तत्रहि ॥१८॥
दह्यन्ते राजवस्तूनिच्छत्राणि चमराणि च ।
कोशागराणि सर्वाणि आयुधागारमेव च ॥१९॥
महिष्यो राजपुत्रास्च गजा अश्वा ह्यनेकशः ।
विमानानि च दह्यन्ते दह्यन्ते वाहनानि च ॥२०॥
शिविकाश्च विचित्रा वै रथास्चैव सहस्रशः ।
सर्वत्र दह्यमानं च दृष्ट्वा राजापि विव्यथे ॥२१॥
सर्व तज्ज्वलितं दृष्ट्वा नग्नक्षपणकास्तदा ।
धृत्वा करेण पात्राणि नीत्वा दण्डाण्छुभानपि ॥
रक्तकम्बलिका गृह्य वेपमाना मुहुर्मुहुः ।
अनुपानहिकास्चैव नष्टाः सर्वे दिशोदश ॥२५॥
मनष्याश्च त्रिवर्णास्ते वीतरागामिन्नुवन् ॥२७॥
अर्हन्तमेके केचिद्वै पलायनपरायणाः ॥
धावन्मदृशतिः पश्चाद्दितस्चेतश्च वै तदा ।
पदातिरेकः प्रब्रुवन् क विप्रा इति जल्पकः ॥

आने लगीं और राज्य का सब सामान जल कर भस्म सात् होने लगा। यह देख राजा को बहुत दुःख हुआ। सब कुछ जलता देख नग्न क्षपणक अपने २ पात्रों और दण्डों को लेकर कांपते हुए भागने लगे। रक्त वस्त्रों को लेकर बार बार कांपते हुए उपानह (जूती) आदि को भी छोड़ कर भाग गये और कितने एक तो वीतराग! वीतराग! कहते हुए नंगे ही भाग निकले तथा बहुत से अर्हन्! अर्हन्! कहते हुए भागने लगे! इधर राजा भी रुदन करता हुआ ब्राह्मणों के पीछे भागा और उनके चरणों में गिर कर गिड़गिड़ाने लगा। मैं राम के दास का भी दास हूं, मैं शरण से

गत्वा तु सहसा राजन् गृहीत्वा तु चरणौ तदा ।
विप्राणां नृपतिर्भूमौ मूर्छितोन्यपतत्तदा ॥३१॥
उवाच वचनं राजा विप्रान् विनयतत्परः ।
जपन् दाशरथिं रामं रामरामेति वै पुनः ॥३२॥
तस्य दासस्य दासोहं रामस्य च द्विजस्य च ।
अज्ञाननिमग्नेन जातोस्म्यन्धो हि साम्प्रतम् ॥३३॥
वह्निः प्रशाम्यतां विप्राः शासनं वो ददाम्यहम् ॥३७॥
दासोऽस्मि सततं विप्रा नैवाऽन्यथा भवेत् ।
यत्पापं ब्रह्महत्यायाः परदाराभिगामिनाम् ॥३८॥
यत्पापं मद्यपानां च सुवर्णस्तेयिनां तथा ।
यत्पापं गुरुघातानां तत्पाप वा भवेन्मम ॥३९॥
तस्मिन्नवसरे विप्रा जाता भूपस्याग्रतः ।
कन्या या पुत्रिका चासीत्सा दत्ता गाधनान्वये ॥४०॥
जीवितं चैव नरेन्द्र जातं विप्रेषु तेषु ।
द्विजाः प्रसन्नाः संजाताः शान्ता दिक्ज्वलित ततः ॥४३॥

[अध्याय १८]

आया हूं आप मेरी रक्षा करो। आप इस अग्नि को शान्त कीजिये मैं आपको शपथ पूर्वक आपके सभी अधिकार देता हूं आप अब क्षमा करें। यह सुन ब्राह्मणों को बड़ी दया आई और हनूमान जी की दी हुई दूसरी पुड़िया से उन्होंने अग्नि को शान्त कर दिया और सब कुछ पूर्व के समान ही बन गया इत्यादि।"*

आलोचक——पाठकों ने स्कन्ध पुराण के विस्तृत लेख को संक्षेप से सुन लिया इससे अधिक वाद विवाद करना व्यर्थ है सिर्फ एक आधि बात पर ही हम यहां थोड़ा सा विचार करेंगे। हम पीछे कह चुके हैं कि अधिकांश जनों में जैन और बौद्ध को एक मानने तथा लिखने का जो अन्ध विश्वास और अन्ध परम्परा चल रही है उसका मुख्य कारण पुराण हैं। हमारे इस कथन को स्कन्ध पुराण मे देखे गये "वर्तता जैनधर्मेण प्रेरितेनेन्द्रसूरिणा" "जामाता तस्य दुष्टो वै नाम्ना कुमारपालकः, पाषण्डैर्वेष्टितो नित्यं कलिधर्मेण संमतः ।८५। इन्द्रसूत्रेण जैनेन प्रेरितो बौद्धधर्मिणा" इन वाक्यों में और भी अधिक प्रमाणित कर दिया है। परन्तु इस बात को इतिहास का जानकर कोई भी निष्पक्ष विद्वान् मानने के लिये तयार नहीं होगा। अतः स्कन्ध पुराण का यह कथन प्रमाण विरुद्ध और विश्वास के अयोग्य है।

---

* स्कन्धपुराण मे यह लेख बड़ा ही विस्तृत है हमने उसका बहुत ही संक्षिप्त सार दिया है वह भी अनुवाद रूप मे नहीं किन्तु मर्म रूप से। अधिक देखने की इच्छा वाले स्कन्धपुराण को देखें।

स्कन्द पुराण के इस लेख से महाराजा आम और कुमारपाल का एक ही समय में होना सिद्ध होता है। आपने अपनी कन्या रत्नगङ्गा का विवाह राजा कुमारपाल से किया यह उल्लेख उक्त कथन की पुष्टि के लिये पर्याप्त है। तथा ये दोनों ही राजा वैदिक धर्म के पूर्ण प्रतिपक्षी, अतएव जैन अथवा बौद्ध थे। इसीलिये रामेश्वर को गये हुए ब्राह्मणों ने हनुमान जी से वर मांगते समय इन दोनों नरपतियों के विषय में हनुमानजी से कहा है कि—"यदि तुष्टोसि देवेश! रामाज्ञापालक! प्रभो! स्वरूपं दर्शय स्वात्म लंकायां यत् कृतं हरे॥ १०॥ तथा विध्वंसयाद्यत्वं राजानं पापकारणं, दुष्टं कुमारपालं हि आमं चैव न संशयः॥ ११॥ अ० २७। अर्थात् हे प्रभो! यदि आप हमारे ऊपर प्रसन्न हुए हैं तो अपना लंका वाला स्वरूप दिखाइये और पापी दुष्ट कुमारपाल और आम का विनाश करिये?* परन्तु इतिहास कथन के सर्वथा विरुद्ध है। महाराजा आम और कुमारपाल का जैन होना तो इतिहास से सिद्ध है परन्तु उनके समय में बड़ा अन्तर है। जैन के ऐतिहासिक ग्रन्थों मे आम राजा का जिकर आया है और कुमारपाल का तो विशेष रूप से उल्लेख है मगर ये दोनों भिन्न २ समय में हुए हैं। "प्रभावकचरित" नाम का एक प्रसिद्ध जैन-ग्रन्थ है उसमें बहुत से प्रभाविक आचार्यों का बड़ी ही सुबोध और सरल (संस्कृत)

---

* इस कथन से मालूम होता है कि उस समय (जिस वक्त यह लेख लिखा गया) जैन बौद्ध और वैदिक धर्मानुयायियों का पारस्परिक विरोध अपनी सीमा को बहुत उल्लंघन कर चुका होगा।

भाषा में वर्णन है । इसको चन्द्रप्रभसूरि नाम के किसी जैन विद्वान् ने विक्रम सम्वत् १३३४ में लिखकर समाप्त किया है उक्त ग्रन्थ में "वप्पभट्टि" नाम के एक प्रभाविक आचार्य के प्रबन्ध का वर्णन करते हुए लिखा है कि "विक्रम सम्वत् ८११ के चैत्र मास की कृष्णाष्टमी के दिन वप्पभट्टि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया और आम राजा के मंत्री के अनुरोध से संघ की अनिच्छा होने पर भी गुरु ने उनको आम राजा के पास भेजा[१]" "आम महाराजा चन्द्रगुप्त के वंशीय कान्यकुब्जाधीश यशोवर्मा के पुत्र थे[२]" इससे सिद्ध होता है कि आम राजा विक्रम की आठवीं शताब्दी के अन्त में हुआ है। तथा स्कन्ध पुराण के "एतच्छ्रुत्वा गुरोरेव कान्यकुब्जाधिपोवली, राज्यं प्रकुरुते तत्र आमो नाम्ना हि भूतले" इस श्लोक में कान्यकुब्जाधीश जिस आम का उल्लेख है यह सम्भवतः वही आम है जिसका कि जिकर "प्रभावक चरित" में आया है और कोई नहीं। अब रही कुमारपाल की बात सो उसका समय तो बिलकुल ही निश्चित है कुमारपाल, जैन राजाओं में एक आदर्श राजा हुए हैं इनका जन्म विक्रम सं० ११४९ और राज्याभिषेक ११९९ में हुआ था और १२२३ में इनका स्वर्गवास हुआ।

(१) एकादशाधिके तत्र जाते वर्ष शताष्टके ।
विक्रमात् सोऽभवत्सूरिः कृष्णचैत्राष्टमी दिने ॥११५॥
श्रीमदाम महाभूप श्रेष्ठामात्योपरोधतः ।
अनिच्छतोपि संघस्य प्रैषीत्तैः सह तं गुरुः ॥११६॥

(२) श्रीचन्द्रगुप्त भूपालवंश मुक्तामणिश्रियः ।
कान्यकुब्ज यशोवर्म भूपतेः सुयशोंगभूः ॥......
अत्रेसीदाम नामस्वं क्षितौ स्वटकयाततः ॥४६—४७॥

कुमारपाल राजा को जैन धर्म का प्रतिबोध देने वाले हेमचन्द्राचार्य नाम के एक प्रखर जैन विद्वान् थे इनका वि० सं० ११४५ में जन्म ११५४ में दीक्षा, ११६६ आचार्य पद और १२२९ में शरीरान्त हुआ। ११४५ शरवेदेश्वरे वर्षे कार्तिके पूर्णिमानिशि। जन्माभवत्प्रभो व्योमबाण शंभौ व्रत तथा ११५० ॥ ८४८ ॥ ११६६ रसषट्केश्वरे सूरि प्रतिष्ठा समजायत, नन्दद्वय रवौवर्षेऽवसानमवभवत् प्रभोः ॥ ८४९ ॥ प्र० भा० च० महाराजा कुमारपाल की राजधानी "अनहिलपुर पाटन" में थी और वि० सं० १२१६ में इन्होंने गुरु हेमचन्द्राचार्यजी से जैन-धर्म की गृहस्थ दीक्षा ग्रहण की थी अर्थात् इस समय से आप सर्वथा प्रसिद्ध रूप से जैन धर्म के अनुयायी बने। मोह पराजय नाटक में लिखा है कि धर्मराज की कृपा सुन्दरी नाम की कन्या से इनका विवाह हुआ और अन्य चरित्रों में इनकी स्त्री का नाम भोपल देवी लिखा है।

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कान्यकुब्जाधीश आम और महाराजा कुमारपाल के समय में लगभग तीन शताब्दी का अन्तर है अर्थात् महाराजा आम इतना समय पहले और चौलुक्य वंशावतंस राजा कुमारपाल पीछे हुए हैं। इसलिये स्कन्द पुराण का इन दोनों को समकालीन बतलाना तथा आमकुमारी-रत्नगङ्गा से कुमारपाल के विवाह का उल्लेख करना किसी प्रकार विश्वास योग्य प्रतीत नहीं होता।

यहां पर कई एक सज्जनों का विचार है कि जैन-धर्म के ऐतिहासिक ग्रन्थों में जिन आम और कुमारपाल का जिकर है वे

स्कन्ध पुराण के आम और कुमारपाल से भिन्न हैं स्कन्ध पुराण में जिस आम और कुमारपाल का उल्लेख है वे तो कलियुग के आदि में और एक ही समय में हुए हैं। परन्तु इस बात के लिये सिवा स्कन्ध पुराण के अन्य कोई वलिष्ठ प्रमाण नहीं और स्कन्ध पुराण के लेख पर इसलिये विश्वास करने को मन नहीं करता कि उसमें इन्द्रसूरि नाम के जैन साधु द्वारा कुमारपाल के जैन धर्मानुयायी होने का जो वर्णन है वह किसी भी जैन ग्रन्थ में देखने में नहीं आता इसलिये वलात् यही मानना पड़ता है कि इन्द्रसूरि यह हेमचन्द्र का ही नाम है जो भूल से इन्द्रसूरि लिखा गया है और यह कुमारपाल वही है जिसने कि अपने शासन काल में जैन धर्म की असाधारण रूप से उन्नति करके वारहवीं शताब्दी के जैन इतिहास को सदा के लिये अमर और उज्वल किया है। आशा है पाठक इस पर अवश्य विचार करेंगे।

[राजा और ब्राह्मणों के विवाद की आलोचना]

ब्राह्मणों के साथ कुमारपाल राजा का हिंसाऽहिंसा के विषय में जो विवाद हुआ है। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति-वेद में कही गई हिंसा, हिंसा नहीं प्रत्युत अहिंसा ही है इस सिद्धान्त पर ननु नच करना व्यर्थ है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों से लेकर पुराणों तक में इसी सिद्धान्त की घोषणा की है अतः इन सब की अवहेलना करनी हमारे लिये अशक्य है? शस्त्र द्वारा वध करने पर हिंसा, अधर्म और वेद मंत्रों से वध करने पर अहिंसा एवं शस्त्र द्वारा वध किये गये पशु को दुःख होता है और मंत्रों द्वारा मारे जाने पर उसे

दुःख नहीं प्रत्युत सुख होता है इत्यादि जो उत्तर ब्राह्मण समुदाय ने दिया है वह कितना युक्ति संगत और सन्तोषप्रद है इसका विचार पाठक खुद ही करें। क्योंकि हमारी तुच्छ बुद्धि में इसकी संगति लगाने का सामर्थ्य नहीं इसके सिवा राजा के द्वारा अपमानित हुए ब्राह्मण समुदाय की प्रार्थना पर हनुमान जी की दी हुई पुड़ियों से राजभवन तथा अन्य राज्य-सामग्री जलाना और पुनरुज्जीवित करना एवं अग्नि भय से व्यस्त हुए कुमारपाल का ब्राह्मणों की शरण लेते हुए जैन धर्म को छोड़कर पुनः ब्राह्मण धर्म में प्रविष्ट होना आदि कहाँ तक सत्य और विश्वासार्ह है इसका भी पाठक ही विचार करें? हमारे ख्याल में तो उक्त कथन इतिहास से बहुत पिछड़ा हुआ है प्रथम जब तक किसी प्रबल ऐतिहासिक प्रमाण से इन्द्रसूरि नामक जैन साधु के शिष्य कुमारपाल नाम के किसी जैन राजा का कलियुग के आदि में होना साबित न हो सके तब तक उसके पिछलग्गु समाचार का कुछ मूल्य प्रतीत नहीं होता। हां श्रद्धातिरेक की बात दूसरी है।

अस्तु इससे यह मालूम होता है कि स्कन्ध पुराण की रचना से पहले जैन धर्म का प्रचार पूर्ण रूप से हो चुका था और उक्त पुराण यदि व्यास की रचना है तो निस्संदेह मानना पड़ेगा कि आज से पांच हजार पहले संसार में पूर्ण रूप से जैन धर्म फैल चुका था।

[कूर्म पुराण]

कूर्म पुराण में जैन धर्म की उत्पत्ति, अथवा सिद्धान्त आदि के विषय में कुछ भी लिखा देखने में नहीं आता। परन्तु उसमें श्राद्ध प्रकरण में लिखा है—

वृद्धश्रावकनिर्ग्रन्थाः पञ्चरात्रविदोजनाः ।
कापालिकाः पाशुपता पाषण्डा ये च तद्विधाः॥२२॥
यस्याश्नन्ति हवींष्येते दुरात्मानस्तु तामसाः ।
न तस्य तद्भवेच्छ्राद्धं, प्रेत्य चेह फलप्रदम् ॥२३॥

[अध्या० २२]

अर्थात्–वृद्धश्रावक, जैन-गृहस्थ, निर्ग्रन्थ-जैनसाधु-पाञ्चारात्र कापालिक, पाशुपत तथा इसी प्रकार के अन्य पाखण्डी लोग, ये दुरात्मा तामसी प्रकृति वाले जिसके घर में श्राद्ध का भोजन करते हैं उसका वह श्राद्ध न इस लोक में और न परलोक में ही सुख के देने वाला होता है, इत्यादि ।

आलोचकः—

ऊपर के श्लोकों में श्रावक और निर्ग्रन्थ ये दो शब्द देखने में आते हैं । ये दोनों शब्द क्रमशः जैनगृहस्थ और जैन साधु के लिये जैन ग्रन्थों में विदित किये गये हैं । जैन मत के सिवाय अन्य किसी मत में इन शब्दों का व्यवहार देखने में नहीं आता । इससे कूर्म, पद्म, पुराण के समय में जैन धर्म का अस्तित्व प्रमाणित होने के सिवा उसका प्राबल्य तथा तत्समोपवर्ति, पांचरात्र, कापालिक और पाशुपतादि अन्य मतों का भी अस्तित्व और जोर शोर साबित होता है । अन्यथा कूर्म पुराण के रचयिता को इन मतों के जाल से अपने निजी मत को सुरक्षित रखने के लिये इस प्रकार का प्रयत्न करना न पड़ता । सच तो यह है कि संसार में जब मतवाद की

प्रबल धारा बहने लगती है तब सत्य, मर्यादा और प्रेम की मजबूत दीवारें भी उसमें बह निकलती हैं। इसी पुराण के अध्याय २६ में लिखा है—

"नवार्यपि प्रयच्छेत, नास्तिके हैतुकेपि च ।
पाखण्डेषु च सर्वेषु, नावेदविदि धर्मवित् ॥६७॥"

अर्थात्—नास्तिक (वेदों को न मानने वाला) कुतर्की, पाखण्डी और वेदों के न जानने वाले को धर्मात्मा मनुष्य जल तक भी न देवे इस श्लोक का मतलब स्पष्ट है इस पर किसी प्रकार की टीका टिप्पणी करनी व्यर्थ है। मतवाद की प्रबल निरङ्कुशता का इससे अधिक जीवित उदाहरण शायद ही कोई हो। परन्तु धर्म विषयिक अन्ध-विश्वास सभी कुछ करा देता है इसलिये इस पर खेद प्रकट करना अथवा इस निमित्त से किसी पर दोष लगाना व्यर्थ है।

[क्या महाभारत में जैन-मत का जिकर नहीं ?]

अन्यान्य पुराण ग्रन्थों के अवलोकन के पश्चात् जब हमारा ध्यान महाभारत की ओर जाता है तब हमें वर्तमान आर्यदल के पिता, श्रद्धास्पद स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के एक ऐतिहासिक विचार का स्मरण हो आता है। आप कहते हैं कि रामायण और महाभारत के जमाने में जैन-मत नहीं था, यह मत इनके बहुत पीछे निकला है। यदि रामायण और महाभारत के समय में इस मतका अस्तित्व होता तो इन ग्रन्थों में उसका कहीं न कहीं पर जिकर अवश्य किया होता परन्तु रामायण और महाभारत में जैन-मत

का कहीं पर भी जिकर नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि जैन-मत की उत्पत्ति महाभारत एवं रामायण काल से बहुत पीछे हुई है। तथा आपका यह भी कथन है कि "मूर्ति पूजाका आरम्भ जैनों से हुआ" जैनों से पहले मूर्त्ति पूजा का संसार में प्रचार नहीं था इत्यादि। आपकी असली इबारत इस प्रकार है—

[वाल्मीकीय और महाभारतादि में जैनियों का नाम मात्र भी नहीं लिखा और जैनियो के ग्रन्थों में वाल्मीकीय और भारत कथित "राम, कृष्णादि" की गाथा बड़े विस्तार पूर्वक लिखी है इससे यह सिद्ध होता है कि यह मत इनके पीछे चला क्योंकि जैसा अपने मत को बहुत प्राचीन जैनी लोग लिखते हैं, वैसा होता तो वाल्मीकीय आदि ग्रन्थों में उनकी कथा अवश्य होती इसलिये जैन-मत इन ग्रन्थों के पीछे चला है। कोई कहे कि जैनियों के ग्रन्थों में से कथाओं को लेकर वाल्मीकीय आदि ग्रन्थ बने होंगे तो उनसे पूछना चाहिये कि वाल्मीकीय आदि में तुम्हारे ग्रन्थों का नाम लेख भी क्यों नहीं? और तुम्हारे ग्रन्थों में क्यों है? क्या पिता के जन्म का दर्शन पुत्र कर सकता है? कभी नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि जैन, बौद्ध-मत शैव, शाक्तादि मतों के पीछे चला है। सत्यार्थ-प्रकाश अनुभूमिका पृष्ठ ३९५।] [पाषाणादि मूर्ति पूजा की जड़ जैनियों से प्रचलित हुई। स० प्र० पृ०२८५] इत्यादि।

समालोचकः—

पाठकगण स्वामीजी के कथन को आपने सुन लिया? उसके अनुसार रामायण और महाभारत में मूर्ति-पूजा का भी

जिकर नहीं होना चाहिये क्योंकि उसका शुरू होना आप जैनो मे बतलाते हैं और जैन-मत आपके ख्याल के मुताबिक रामायण और और महाभारत के रचना काल के बाद निकला है। इसलिये आपके मन्तव्यानुसार रामायण और महाभारत में मूर्ति पूजा का उल्लेख नहीं! परन्तु इस बात को कोई भी ब्राह्मण (जिसने रामायण और महाभारत को देखा होगा) मानने को तय्यार न होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

[दोनों लेखों में परस्पर विरोध]

हमारा इस विषय मे सभ्य संसार और विशेषतः वर्तमान आर्य समाज से निवेदन है कि यदि रामायण और महाभारत में मूर्ति पूजा विषयिक लेख मिल जाय तो स्वामी जी के "मूर्ति पूजा जैनों से चली" और "जैन-मत रामायण और महाभारत के बाद निकला" इस परस्पर विरोधी उल्लेख की संगति किस प्रकार लग सकेगी क्योंकि "मूर्ति पूजा जैनों से चली" स्वामीजी के यदि इस कथन पर विश्वास कर लिया जाय तो महाभारत के समय में जैन-धर्म का होना बलात् प्रमाणित हो जाता है। एवं यदि यही मान लिया जाय कि रामायण और महाभारत के जमाने मे जैन-मत का अस्तित्व नहीं था तो स्वामी जी का "मूर्ति पूजा जैनों से चली" यह कथन बिलकुल मिथ्या ठहरता है। अतः इस विरोध की शान्ति के लिये किसी उचित उपाय का आलम्बन करना, (जो कि हमारी समझ से बाहर है) उनके लिये आवश्यक है। हमारे ख्याल मे तो स्वामीजी का उक्त लेख कुछ मूल्यवान प्रतीत नहीं होता अत: हमें इस पर अधिक दृष्टिक्षेप निरर्थक है।

जो लोग स्वामीजी के कथन को वेद वाक्य के समान समझते हुए उस पर सन्देह उठाना पाप समझते हैं उन भद्र पुरुषों के लिए रास्ता बहुत खुला है, वे महानुभाव बिना संकोच कह उठेंगे कि अव्वल तो रामायण और महाभारत में मूर्ति पूजा का वर्णन ही नहीं, यदि कहीं पर उसका जिकर भी हो तो वह प्रक्षिप्त है। किसी स्वार्थी ने उसे पीछे से मिला दिया है। इसलिए स्वामीजी के कथन में किसी प्रकार के विरोध की आशंका करना निरी भूल है!

पाठकगण! ऐसे सत्पुरुषों के सम्बन्ध मे कुछ कहना सुनना व्यर्थ है।

यस्यनास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोतिकिम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्याति ॥

जहाँ तक हमारा विश्वास है रामायण और महाभारत में मूर्ति पूजा का सम्बन्ध वर्णन अवश्य है * परन्तु उसे प्रक्षिप्त ठहरा कर

---

(१) वा० मी० रामायण उत्तर काण्ड—

यत्र यत्र च यातिस्म रावणो राक्षसेश्वरः।
जम्बुनदमयं लिंग तत्र तत्र स्म नीयते ॥ १ ॥
वालुका वेदिमध्येतु तल्लिंगं स्थाप्य रावण.।
अर्चयामास गन्धैश्च पुष्पैश्चामृतगन्धिभिः ॥ २ ॥

(२) महाभारत त्रि० पर्व अ० ७४—

ततो,ऽस्मभिश्च प्रतिमां कारयित्वाहिभक्तिन.।
शुश्रूषिष्यन्ति ये नित्यं, मम यास्यन्ति ते गतिम् ॥ ५१ ॥
पापाणैः प्रतिमां तात, कारयित्वाच कौरव।
शुश्रूषन्ति कृतात्मानो, विष्णुलोकाभिकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

अथवा मनमाना उसका अर्थ बदल कर अपने ही कक्के को खरा रखना कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता।

अच्छा इस अप्रासंगिक आलोचना को छोड़ कर अब इस बात पर विचार करना चाहिये कि क्या सचमुच ही महाभारत में जैन-मतका जिकर नहीं? क्या स्वामीजी जो कुछ फरमाते हैं वह बिलकुल ठीक ही है। मगर इसमें विश्वास दिलाने की क्या आवश्यकता है महाभारत का पोथा ही सब बात का निर्णय कर देने में समर्थ है। इस समय महाभारत हमारे सामने मौजूद है। उसमें अन्यान्य पुराण ग्रन्थों की तरह जैन-मत की उत्पत्ति अथवा उसके प्रवर्तक किसी महा पुरुष विशेष के सम्बन्ध का उल्लेख तो हमारे देखने में नहीं आया, परन्तु महाभारत में जैन-मत का जिस तरह पर जिकर है वह अन्य पुराणों से विलक्षण और बड़े महत्व का है उसमें अन्य मतों के साथ २ जैन मत के मूल सिद्धान्त (सप्त भंगी नय) का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता से किया है। तथाहि।

"पौरुष कारणं केचिदाहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमेके प्रशंसन्ति, स्वभावमपरे जनाः॥४॥
पौरुषं कर्म दैवं च कालवृत्ति स्वभावतः।
त्रयमेतत् पृथग्भूतमविवेकंतु केचन॥५॥
एतदेवं च नैवं च नचोभे नानुभे तथा।
कर्मस्था विषय ब्रूयुः सत्वस्थाः समदर्शिनः॥६॥"

[शां० प० अ० २३८ श्लो० २४४ श्लो० ४-५-६ निर्णय सागर प्रेस]

[टीका]—आर्हतमतमाह–एतदिति तैर्हि स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्ति चनास्ति स्यादस्ति चा वक्तव्यः स्यान्नास्ति चा वक्तव्यः स्यादस्ति नास्ति चा वक्तव्यः स्यादवक्तव्यः इति सप्त भंगी नयः सर्वत्र योज्यते। अतएतदेवमिति स्यादस्तीत्युक्तम्। चात् एतन्न एवं च ेति सम्बन्धेन स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्य इति चोक्तं। नचोभेहत्त्यनेन स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति च नास्ति चा वक्तव्य इतिचोक्तं। नानुभे इति स्यादस्ति चा वक्तव्य स्यान्नास्ति चावक्तव्यः इतिचोक्तं। कर्मस्था आर्हता विषयं घटादिं एतदेवमस्ति इत्यादि ब्रूयुरिति सम्बन्धः॥"]

इन श्लोकों का अर्थ स्पष्ट है पुरुषार्थ, कर्म और स्वभाव वाद आदि का उल्लेख करके छहवें श्लोक मे जैन धर्माभिमत स्याद्वाद के मूल भूत सप्तभंगी नय का वर्णन किया है। उक्त श्लोक से स्यादस्ति स्यान्नास्ति आदि भंगों का आविर्भाव किस प्रकार से हो सकता है इसका उल्लेख पंडित प्रवर नीलकण्ठाचार्य ने अपनी टीका (जो कि ऊपर दी गई है) में बड़ी ही खूबी के साथ किया है। छठे श्लोक में जो "कर्मस्थाः" पद है उसका अर्थ "जैन" होता है ऐसा ही टीकाकार ने किया है। इसके सिवा महाभारत शां० मो० अ० २३२ मे भी ये श्लोक (जो ऊपर लिखे गये हैं) आये हैं परन्तु वहा शब्द रचना में थोड़ा सा फर्क है* अर्थ में नहीं। वहां पर पंडित नीलकण्ठ ने जो टीका की है उसमें इस प्रकार लिखा है—

* अध्याय २३२ के श्लोकों का पाठ ९३ पृष्ठ के नीचे देखिये।

"कर्मस्था इत्यार्हतानां यौगिकंनाम तेहि कर्मष्ठिक्वशादेव जीवानां बन्धः तप्तशिला रोहणादिना निर्जराख्येन धर्मेणैव च मोक्ष इति वदन्ति" अर्थात् "कर्मस्थ" यह जैनों का यौगिक नाम है।

समालोचक—हमारा विश्वास था कि स्वामी दया-नन्द-सरस्वती जी का कथन बहुधा सत्य पर ही प्रतिष्ठित होगा। परन्तु महाभारत के इस (ऊपर दिये गये) लेख ने हमारे विश्वास की जड़ को बिलकुल खोखला कर दिया! स्वामी जी के लेख को प्रमाण विधुर और सत्य से नितान्त गिरा हुआ साबित करने में उक्त (महाभारतस्थ) लेख ने किसी प्रकार की भी त्रुटि नहीं रखी। महाभारत के समय में जैन धर्म के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाला इस से अधिक स्पष्ट लेख और क्या हो सकता है? महा-भारत के इस (ऊपर कहे गये) लेख का यथावत परामर्श करने से प्रतीत होता है कि महाभारत के रचना काल में जैन-धर्म मात्र बाल दशा में ही नहीं था किन्तु उसके अभिमत सिद्धान्तों का क्रम बन गया था और वे दर्शन-शास्त्र के रूप में जनता के सामने

केचित्पुरुषकारं तु प्राहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमित्यपरे विप्राः स्वभावं भूतचिन्तकाः ॥ १९ ॥
पौरुषं कर्म दैवं च फलवृत्ति स्वभावतः।
त्रय एतेऽपृथग्भूता न विवेकं तु केचन ॥ २० ॥
एतदेवं च नैवं च न चोभे नानुभे न च।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ २१ ॥

प्रस्तुत किये जा चुके थे। जनता में से बहुतों ने ता उन्हें अपनाया और बहुतों ने उनका बड़ी प्रबलता से प्रतिवाद भी किया। इसलिये महाभारत के समय में जैन धर्म के अस्तित्व का सन्देह करना कम से कम हमें तो भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है।

हम अपने पाठकों को इतना और भी स्मरण करा देते हैं कि जैन मत की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता के लिये हमें किसी प्रकार का आग्रह नहीं हमारे विचारानुसार प्रत्येक मत में अपेक्षाकृत प्राचीनता और नवीनता बनी हुई है। अतः वह (जैन मत) आज उत्पन्न हुआ हो चाहे हजार वर्ष से, इस पर हमें कुछ विवाद नहीं किन्तु "महाभारत के जमाने में जैन-धर्म का अस्तित्व नहीं था वह उसके बाद निकला" यह बात हमें किसी प्रकार उचित प्रतीत नहीं होती।

अब रही रामयण की बात सो उसमें भी एक स्थान पर लिखा है—

"ब्राह्मणा भुंजते नित्यं, नाथवन्तश्च भुंजते।
तापसा भुंजते चापि, श्रमणाश्चैव भुंजते॥"

(बा० सं० १४-१२)

अर्थात् राजा दशरथ के यज्ञ में ब्राह्मण, शूद्र, तापस और श्रमण आदि नित्य भोजन करने लगे। यहां पर श्लोक में जो श्रमण शब्द आया है वह अधिकांश जैन साधुओं के ही लिये उपयुक्त हुआ है। जैन ग्रन्थों में साधु के लिये श्रमण शब्द का अधिक प्रयोग देखा गया है और टीकाकारने तो यहां श्रमण शब्द का अर्थ—"बौद्ध सन्यासी-बौद्ध साधु" किया है। तथाहि—"श्रमणाः बौद्ध

सन्यासिनः" टी० कार के कथनानुसार उस समय बौद्ध धर्म के साधु मौजूद थे इस से सिद्ध हुआ कि उस समय बौद्ध धर्म था। बौद्ध मत का आविर्भाव जैन मत के बाद हुआ, यह बात आज निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है इसलिये रामायण के समय में भी जैन धर्मका अस्तित्व इस हेतु से मानना होगा ऐसा हमारा ख्याल है।

प्रसंगोपात ।

सिंहजी की जैन मत विषयिणी अनभिज्ञता ।

बड़े दुःख से कहना पड़ता है कि इस समय साधारण जनता के अतिरिक्त बहुतसा विद्वान वर्ग भी जैन धर्म के कतिपय (जोकि बहुत स्थूल और जानने लायक हैं) सिद्धान्तों से बहुधा अपरिचित ही दिखाई पड़ता है, जिसके कारण किसी समय उनके समझने में बड़ी गोलमाल सी हो जाती है। पाठकोंको पंडित उदयनारायण सिंह जी के नाम का स्मरण होगा, अथवा उन्होंने सुना होगा, आप मधपुरा—जिला मुजफ्फर नगर के रहने वाले हैं। आपको अन्य ग्रन्थों को छोड़ दर्शन ग्रन्थों की भाषा बनाने का बड़ा शौक मालूम देता है तदनुसार एक दो दर्शन ग्रन्थों की भाषा आपने कर भी डाली है एवं सर्व दर्शन संग्रह का भाषानुवाद भी आपकी ही कृपा का फल है! सर्व दर्शन संग्रह में अन्यान्य दर्शनों के साथ क्रम प्राप्त जैन दर्शन का भी वर्णन है आचार्य प्रवर माधव ने इसमें जैन सिद्धान्तों को बड़ी ही सरलता से समझाया है। जैन धर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो मुख्य शाखाओं में स्थूल

अन्तर कितना है, इस बात को समझाने के लिये जैन विद्वान् मुनि जिनदत्त-सूरि प्रणीत विवेक विलास ग्रन्थ के कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं उनमें का एक श्लोक है—

नभुंक्ते केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बराः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह ॥१॥

इस श्लोक का सिंहजी ने जो भाषा में अनुवाद किया है वह सचमुच देखने के काबिल है और वह इस प्रकार है—

"अकेला न भोजन करते और न स्त्री भोगते ऐसा दि० मोक्ष को पाते हैं यह भड़ा भेद श्वेताम्बरों के साथ कहा है"

हम नहीं समझते कि सिंह जी ने इस प्रकार का (सर्व दर्शन संग्रह की भाषा टीका करने का) दुस्साहस क्यों किया ? संस्कृत श्लोकों का षष्ठी चतुर्थी का अर्थ करना कुछ और बात है तथा उसके सिद्धान्त गत तात्पर्य को समझ कर उसका अनुवाद करना अन्य बात है। सर्व दर्शन संग्रह के इस भाषानुवाद से आपका संसार में बड़ा यश बढ़ा होगा परन्तु इन पंक्तियों (अकेला न भोजन करते इत्यादि) ने उसकी दुर्दशा भी खूब कर डाली। आपकी इस अनभिज्ञता पर बड़ा दुःख होता है। हम आपसे सर्वथा अपरिचित हैं और हमें तो यह भी खबर नहीं कि इस समय आप अपने दर्शनों से नगर निवासियों को अथवा देसवासियों को कृतार्थ कर रहे हैं या किसी स्वर्ग विशेष के विशिष्ट अतिथि बन रहे हैं; अन्यथा हम आप से कुछ न कुछ प्रार्थना किये विना न रहते।

ऊपर लिखे श्लोक का यथार्थ तात्पर्य और अक्षरार्थ हमने *"स्वामी दयानन्द और जैन-धर्म" नाम की पुस्तक में लिख दिया है, पाठक वहाँ से ही देखने की कृपा करें वहाँ उनको और कुछ भी देखने को मिलेगा।

[निष्कर्ष]

जैन-धर्म से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी उल्लेख पुराणों में पाये जाते हैं, उन सब पर सम्यक्तया विचार करने से निम्न-लिखित बातें प्रकट होती हैं।

१—पुराणों के जमाने में जैन-धर्म विद्यमान था।

(क) जिस समय पुराणों की रचना हुई है उस समय जैन-मत अपनी यौवन दशा में था।

(ख) उस समय में आपस का विरोध कल्पनातीत दशा को पहुँच चुका था।

२—पुराणों में जैन-धर्म की उत्पत्ति के जितने भी लेख हैं वे एक दूसरे से विभिन्न और प्रतिकूल हैं।

(क) उनमें ऐतिहासिक सत्यता बहुत ही कम है अतएव उन पर अधिक विश्वास करने को मन नहीं कहता!

३—जैन-धर्म की उत्पत्ति विषयिक अनेक प्रकार की जो मिथ्या कल्पनायें प्रचलित हो रही हैं उनका कारण भी पुराण गत जैन-धर्म विषयिक लेख ही हैं जैसे—

* यह पुस्तक श्री आत्मानन्द जैन पु० प्र० मण्डल आगरा इस पते से मिलती है।

(क) जैन-मत बौद्ध-मत से निकला और उसका शाखामात्र है।
(ख) जैन और बौद्ध-मत एक ही हैं, इनके चलाने वाले एक ही पुरुष है वह प्रथम बुद्ध था बाद में जैन बन गया इत्यादि।

४—इसके सिवा पुराणों के उल्लेख से एक बात यह भी प्रकट होती है कि उस समय की वैध पशु हिंसा का बड़ा ज़ोर था जैन और उसके परवर्ति बुद्ध धर्म ने उसे रोकने के लिये बड़ा प्रयत्न किया और इस कार्य में उसे बड़ी भारी सफलता प्राप्त हुई।

[जैन समाज के नेताओं का कर्तव्य]

जैन-धर्म के विषय में अनेक प्रकार के जो मिथ्या विचार फैल रहे हैं उनका अधिकांश दोष वर्तमान समय के जैन विद्वानों और मुख्य नेताओं पर है। यदि वे चाहते तो इस विषय में बहुत सा अन्धकार दूर हो सकता था, परन्तु शोक है कि उन्हें आपस की गृह-कलह से ही मुक्ति नहीं मिलती। अतः उनको मुनासिब है कि जैन सिद्धान्तों को यथार्थ और स्पष्ट रूप से जनता के समक्ष रखने का प्रयत्न करें? समय का प्रवाह अब बदल रहा है। जैन-समाज के हृदय से मतवाद के भाव कुछ कम हो रहे हैं, जिज्ञासा की तरंगें प्रति दिन उमड़ रही हैं। हर एक मत के सिद्धान्तों को प्रेम पूर्वक ़नने और उपयुक्त एवं यथार्थ सिद्धान्त को अपनाने के लिए अब जनता तैयार है। अतः यह समय चूकने का नहीं। यदि जैन सिद्धान्तों में सचाई होगी, यदि जैन दर्शन में अन्य दर्शनो की

अपेक्षा अधिक सार और अधिक महत्व की बातें होंगी तो सभ्य संसार उन्हें बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार करेगा और उनके सामने सिर झुकायेगा, अस्तु और कुछ नहीं तो जनता में फैले हुए मिथ्या विचारों में तो कमी होगी !

[उपसंहार]

मध्यस्थ वाद माला के इस द्वितीय पुष्प की समाप्ति करते हुए हम अपने पाठकों से यत्किंचित् और भी निवेदन कर देते हैं।

पुराणों में जैन-धर्म विषयिक जो भी उल्लेख हमें मिला उसे हमने इस लेख में उद्धृत कर दिया है। उसका मनन करना तथा अपने विचारों का उस पर प्रकाश डालना अब पाठकों का काम है। हमारे विचारानुसार तो "हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेज्जैन-मन्दिरम्" इत्यादि उक्तियां तथा जैन-मत की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाली विविध प्रकार की मिथ्या कल्पनाओं का उद्भव स्थान पुराणों के वे लेख ही प्रतीत होते हैं जिनका कि पहले जिकर आ चुका है।

पुराणों में आये हुए जैन-धर्म सम्बन्धी लेखों को उद्धृत करते समय हमने कहीं कहीं पर अपना विचार भी प्रकट किया है परन्तु वह अच्छा है या बुरा, इसके लिए हम कुछ नहीं कह सकते। सम्भव वह यथार्थ हो, सम्भव है उसमें बहुत सी भूलें हों, इस बात की मीमांसा करना निश्चय समालोचकों का काम है, हमारी परिमित बुद्धि में जो कुछ आया उसे हमने जनता के समक्ष रख दिया, उसके उचितानुचित के विवेचन का भार सभ्य पाठकों

पर है। आशा है सभ्य पाठक हमारी इस प्रार्थना को स्वीकृति प्रदान कर सफल करते हुए हमें अनुगृहीत करेंगे।

शिवमस्तु सर्व जगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवन्तु लोकाः ॥

—विनीत हंस



शुद्धिपत्रम् ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१	स्वाहर्वा	हर्वां
२२	७	पावन्तः	यावन्तः
२२	१९	शो	शे
२६	१६	यशै	यनै
३१	२०	स	से
३४	५	र्धी	र्धां
३७	५	द्व	द्ध
३९	१४	धर्म	धर्मः
,,	१५	पुन	पुनः
,,	१६	द्धु	द्व
४१	७	का	कां
४१	१५	करि	कारि
४२	१२	शयो	तयो
४३	४	ण	णः
४४	८	ति	सि
४६	९	दो	वो
५०	१२	वि	कि
५२	२०	ति	त
५३	३	ति	त
५४	२३	ला	ली

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५६	१	का	को
५८	१	आ	औ
५९	१५	यश	यज्ञ
६०	२१	स्वा	ला
६४	१३	से	स
,,	१७	से	स
६५	८	पूटंगएयु	पूटंगाएयु
६७	१२	रजे	रजेः
७४	२५	ब्रूते	ब्रूत
८३	१३	दीवी	देवी
८३	६	या	यी
८६	१३	दि	हि
८९	१९	शक्ति	शांति
९०	१२	का सम्ब्रन्ध	संबंधी

नोट—(१) पृ० ६३ प० ८ से [विचार माला में] की जगह [विचारों को एक माला में] पढ़ना ।

(२) पृ० ८१ पं० १३ [इतिहास कथन] के स्थान मे "इतिहास इस कथन"—ऐसा पढ़ना ।